❋ समर्पण ❋

★

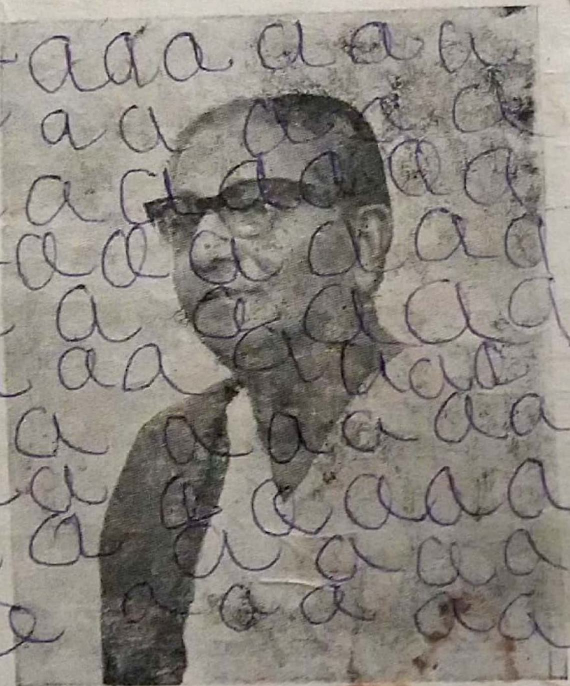
बाल्यकाल से ही यम नियमों के पालन की
प्रेरणा देने वाले पुण्यात्मा परम पूजनीय
पिताश्री स्वर्गीय स्वामी चेतनानन्द जी,
सरस्वती की संस्मृति में
सादर समर्पित

★

—सत्यदेव आर्य

एक सुपावन व्यक्तित्व

[अध्यात्म और विज्ञान का सुदिव्य समन्वल]



डॉ० सत्यदेव आर्य

दो शब्द !

'उपासना' जैसे साधना परक विषय पर कुछ लिखना मेरे लिये सहज नहीं है, क्योंकि यह मेरा क्षेत्र नहीं है। मैं तो केवल चिकित्सा विज्ञान का विद्यार्थी रहा हूँ और अब भी हूँ। आर्ष ग्रन्थों का मेरा सीमित स्वाध्याय, आध्यात्मिक विषय का अपरिपक्व चिन्तन और संस्कृत भाषा का अत्यल्प बोध मुझे आश्वस्त नहीं करता कि मैं इस क्षेत्र में उतरू"। फिर भी अन्तःकरण की आवाज कुछ ऐसी प्रेरणा दे रही है कि लेखनी उठा ही बैठा हूँ.। मैं जानता हूँ कि जो कुछ भी मैं लिख रहा हूँ उसमें संशोधन व संवर्धन के लिये पर्याप्त अवसर होगा और इस दिशा में हमारे मनीषी विद्वज्जन मेरा समुचित मार्ग दर्शन करेंगे, ऐसा मुझे विश्वास भी है।

मानव जीवन का यदि कोई चरम लक्ष्य या ध्येय है तो वह यही कि मानव उस सच्चिदानन्द स्वरूप परम पिता परमात्मा का कृपाकाँक्षी बन उसके चरणों में स्थान पा सके, उसके प्रकाश से प्रकाशित हो सके, उसके अपार आनन्द के भण्डार से परमानन्द की प्रसादी और उसका सान्निध्य लाभ कर आवागमन के चक्र से छूट, चिर अभिलषित मोक्ष प्राप्त कर सके। पर यह तभी सम्भव है जब मानव, माँ मानवता की गोद में बैठ 'मानव' कहलाने का अधिकारी बने। मानव बन वह सत्याचरण और धर्माचरण से सत्कर्म करे, अपने वर्ण व

आश्रम के विहित कर्त्तव्य कर्मों का निःस्वार्थ और निष्काम भाव से अनुष्ठान करे और जनहित व प्राणिमात्र की कल्याण-कामना से अनुप्राणित हो। तभी वह प्रभु का कृपापात्र बन पाता है और तभी प्रभु के समीपस्थ होने का अथवा उपासना करने का अधिकारी बन पाता है।

इसी भावना से भावित कुछ विचार इस पुस्तक में प्रस्तुत हैं। आशा है, पाठकवृन्द उदारता से अपना कर कृतार्थ करेंगे।

विनीत—

डॉ० सत्यदेव आर्य
एस० बी० १६१, बापू नगर
जयपुर ३०२०१५



भूमिका

क्या है यह विश्व की पहेली ? यह सम्पूर्ण जग-प्रपञ्च है क्या ? एक प्रश्न है, जिसका उत्तर है—यह सम्पूर्ण विश्व विराट् ईश्वर, जीव और प्रकृति—वह, मैं और तू इन तीन अनादि एवं शाश्वत सत्ताओं का पसारा है। प्रकृति है सत्, जीवात्मा है सत् + चित् = सच्चित् तथा परमेश्वर है सत् + चित् + आनन्द = सच्चिदानन्द स्वरूप। प्रकट है जीवात्मा में आनन्द का अभाव है तथा प्रकृति में आनन्द तो कहाँ, चैतन्यता भी नहीं है। अतः जीव को यह आनन्द प्रकृति को साधन बनाकर एकमेव साध्य परमात्मा की शरण, उसके सान्निध्य = समीपता = उपासना द्वारा ही मिलना सम्भव है। तो जीवात्मा का चरम लक्ष्य है प्रकृति के सहयोग से आनन्दघन प्रभु की प्राप्ति।

जल के समीप बैठकर हम शीतलता का अनुभव करते हैं और अग्नि के समीप बैठकर गर्मी का। अर्थात् जिसकी उपासना हम करते हैं उसके गुणों का आधान हमारे में होता है। जैसे अग्नि की समीपता या उसकी उपासना से लोहा भी अग्नि और प्रकाश से युक्त हो आग्नेय हो जाता है, वैसे ही ईश्वर की उपासना से ईश्वरीय गुणों का आधान, उनका विकास हमारे जीवन में हो, हम आनन्दमय बनें, जीवनमुक्त बनें यही उपासना की अन्तिम फल-श्री और महत्व है।

ईश्वर यज्ञ स्वरूप है, हमारा जीवन भी यज्ञमय—परोपकार-परायण बने, ईश्वर सत्य स्वरूप है हम भी सत्यमानी, सत्यभाषी और सत्कर्मी बनें, ईश्वर दयालु और न्यायकारी है हम भी इन गुणों को धारण करें। जिस प्रक्रिया से ईश्वरीय गुणों का विकास हमारे जीवन में हो, उसी का नाम है उपासना।

पर यदि जीवन भर उपासना या पूजा-पाठ का नाटक रचकर भी हम अनुदार, संकीर्ण हृदय, अन्यायी, स्वार्थ-परायण, कर्त्तव्य-शून्य, पुरुषार्थ-रहित और अनेक २ दुर्गुणों की खान बने रहते हैं तो हमें मानना ही चाहिये कि हमारी उपासना-पद्धति में ही दोष है—हमने 'उपासना-विज्ञान' को समझा नहीं है या सच में हमने उपासना की ही नहीं है।

आज संसार में उपासना को लेकर शत-शत सम्प्रदाय बने हुए हैं, अनेक २ पूजा-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। पर हम देख रहे हैं कि भगवान् का यह आनन्दमय संसार दुःखधाम बनकर रह गया है। इतना ही नहीं हम तो देखते हैं कि संसार के सब देशों में सबसे अधिक ईश्वर-भक्ति और उपासना की चर्चा हमारे देश भारत में होती है और दूसरी ओर सबसे अधिक आलसी, निकम्मे, हरामखोर, कर्त्तव्यशून्य और चरित्रहीन लोग हमारे यहाँ हैं इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश की नई पीढ़ी धर्म, ईश्वर और ईश्वर भक्ति (उपासना) से ही घृणा करने लगी है।

प्रश्न है, आखिर बात क्या है ? बहुत सीधा सा उत्तर है इसका कि हम उपासना करते हैं, पर उसके विज्ञान को बिना जाने। हम ईश्वर को मानते तो हैं, पर उसके स्वरूप को बिना जाने। विद्युत् (बिजली) कितनी उपयोगी वस्तु है, पर उसका अनेक विध लाभ वही ले सकता है जो उसके 'विज्ञान' को, उसके 'रहस्य' को जानता है। जो उसके 'टैकनिक' से, प्रयोग-विधि से अपरिचित है वह यदि प्रयोग करेगा तो 'खतरा' उपस्थित रहेगा, यहाँ तक कि जीवन-हानि भी सम्भव है। ठीक इसी प्रकार उपासना के विज्ञान, उसके रहस्य को बिना जाने उपासना करने वाला उपासना के लाभ—ईश्वरीय गुणों से युक्त होकर शान्ति प्राप्ति—से तो वञ्चित रहता ही है, प्रायः उसका दुरुपयोग करने से जीवन-हानि भी कर बैठता है अर्थात् अनेक-विध दुर्गुणों और दुरितों का शिकार बन अमूल्य मानव-जीवन को नष्ट कर लेता है।

जो जितना बड़ा 'भगत', जिसका जितना लम्बा तिलक वह उतना ही बड़ा ठग, दुराचारी और पाप-ताप-ग्रस्त है, ऐसा प्रायः देखने में आता है। इसका एक मात्र कारण है उपासना के विज्ञान या रहस्य को बिना जाने उपासना करना। उपासना का अर्थ जिसके निकट ईश्वर की खुशामद करके उसे प्रसन्न करना है, उपासना की विधि जिसके निकट भोग-प्रसाद के रूप में रिश्वत देकर या 'भगवान् के एजेन्टों' द्वारा सिफारिश कराना है, जिसे इतना तक पता नहीं कि उपास्य है कौन ? ईश्वर की जगह जो न जाने किस-किसकी पूजा कर रहा है, एक ईश्वर की जगह जिसके कोटि-कोटि उपास्य देवता हैं जो पापों से बचने के लिये नहीं पापों के फल से बचने के लिये उपासना करता है, जो ईश्वर जैसा स्वयं बनने की बजाय ईश्वर को अपने जैसा खाने-पीने वाला, मौज-मजे करने वाला, भोग भोगने वाला और जीने-मरने वाला बनाता है, जो उपासना के रूप में आत्म-निरीक्षण करते हुए अपनी आँख, अपने कान, अपने हाथ-पैर आदि द्वारा किये जाने वाले कर्मों का हिसाब ईश्वर को देकर उन्हें शुद्ध और पवित्र बनाने के स्थान पर उपासना के रूप में ईश्वर से सौदा करते हुए उससे हिसाब माँगता है कि बता हमने तेरे लिए इतना जप-तप माला और पूजा-पाठ किया तूने हमारे लिए क्या किया— ऐसा उपासक, उपासना के विज्ञान और सत्य रहस्य से अपरिचित है। वह 'उपासना' के दुरुपयोग के कारण और भी अधिक पापी और दुराचारी दीख पड़ता है

क्योंकि उसे भ्रान्ति बनी रहती है कि उसे पापों का फल नहीं मिलेगा। इस प्रकार अधिक २ पापी बनकर वह आध्यात्मिक जीवन को नष्ट कर डालता है जैसे कि विद्युत् का दुरुपयोग करने वाला।

प्राय: देखने में आ रहा है कि ऐसे उपासकों से वे लोग कम पाप करते हैं जो किसी प्रकार की उपासना करते ही नहीं, ठीक उसी प्रकार जैसे विद्युत् का दुरुपयोग करने वाले की अपेक्षा वह व्यक्ति सुरक्षित है जो विद्युत् का उपयोग ही नहीं करता। इतना ही तो है कि वह विद्युत् के लाभों से वंचित रहेगा, उसके दुरुपयोग से जीवन-हानि के खतरे से तो वह बचा रहेगा। नास्तिक ऐसे ढपोलशंख आस्तिक से लाख गुना अच्छा है, जो आस्तिकता या उपासना का दुरुपयोग करके कायरता, क्लीवता, कर्त्तव्य-शून्यता एवं पुरुषार्थ-हीनता को ही उपासना की संज्ञा दे बैठता है तथा उपासना की ओट में घोर से घोर पापों को गले लगा बैठता है।

संसार की सुख-शांति को नास्तिकों से उतना खतरा नहीं है। वे तो कभी न कभी उस 'जबरदस्त' के—उस महान् के चरणों में सिर झुका कर रहेंगे ही और जब कभी सच्ची आस्तिकता के स्वरूप और विज्ञान से वे परिचित होंगे उपासना के रहस्य को जानेंगे तो निहाल हो उठेंगे। पर विश्व-शांति के घोर शत्रु तो झूंठे आस्तिक या ढके हुए नास्तिक हैं। उन्हें आस्तिकता का गर्व और प्राय: संतोष-सा भी बना रहता है साथ ही वे पाप-पङ्क में भी आकण्ठ डूबे रहते हैं।

विज्ञान और धर्म या आस्तिकता को परस्पर विरोधी माना जाता है, पर यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है। ज्ञान और विज्ञान अथवा उपासना और विज्ञान एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। एक

वैज्ञानिक ही सच्चा उपासक हो सकता है और एक उपासक ही आदर्श वैज्ञानिक। विज्ञान-शून्य उपासना मानव जाति के सर्वनाश का कारण रही है। जिस उपासना का मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से, वैयक्तिक, पारिवारिक सामाजिक एवं राष्ट्रीय उन्नति से, हमारे शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास से कोई सम्बन्ध नहीं वह दो कौड़ी की भी नहीं। हर्ष का विषय है कि युग पुरुष देव दयानन्द तथा अन्य महापुरुषों के पुण्य प्रभाव से भ्रान्ति के बादल अब छँट रहे हैं, विज्ञान और अध्यात्म निकट आ रहे हैं। दोनों ही एक दूसरे के अभाव में अपनी अपूर्णता अनुभव करते हुए हाथ में हाथ मिलाकर चलने का उपक्रम कर रहे हैं।

यह पवित्र ग्रन्थ आचूड़ांत विज्ञान के निष्ठावान् विद्यार्थी डा० सत्यदेव जी आर्य की पुण्य कृति है। विद्वान् लेखक ने विज्ञान के आदर्श विद्यार्थी के रूप में उपासना क्या और क्यों ? उपासना किसकी ? उपासना कौन करे ? उपासना कैसे—उपासना विधि तथा उपासना की फल–श्री आदि का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए उपासना के विज्ञान या रहस्य को बड़े ही सरल शब्दों तथा सरस शैली में प्रस्तुत किया है। विषय के स्पष्टीकरण करने के लिये चित्रों का भी प्रयोग किया गया है।

श्री 'आर्य' जी के यह लेख 'तपोभूमि' के अप्रेल-मई' ७२ के विशेषांक के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। विद्वज्जनों ने इन्हें मुक्त कण्ठ से सराहा। स्व० प० भगवानस्वरूप जी न्यायभूषण (तत्कालीन सम्पादक—परोपकारी, अजमेर) ने लिखा था— डा० आर्य ने बड़े ही विद्वत्ता पूर्ण ढंग से विषय को समझाया है। अनेक वेद मन्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जो उनके सतत स्वाध्याय के सूचक हैं। विषय का वैज्ञानिक ढङ्ग से बड़ा महत्त्व

पूर्ण विवेचन किया है। आप चूँकि रचना-विज्ञान के विशेषज्ञ हैं अतः डायाग्राम देकर मस्तिष्क व मन के विभिन्न रूप व उनकी शक्तियों को दर्शाया है। यह लेख बार-बार पढ़ने और मनन करने की अपेक्षा रखते हैं।"

विश्वास है लेखक का यह पावन-प्रयास—उपासना रहस्य प्रभु राह के राहियों के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेगा। आज जब उपासना एवं अध्यात्म के क्षेत्र में गुरुडम और अन्धविश्वास पुनः नये-नये रूपों और लुभावने नारों के सहित शिक्षित एवं बुद्धिजीवी जनों तक को पथभ्रष्ट कर रहे हैं, 'उपासना-रहस्य' युग की एक महती आवश्यकता होगी, ऐसा विश्वास है। ईश्वर कृपा करें संसार के मानव 'उपासना-रहस्य' को समझें और समझें मानव जीवन के उद्देश्य को। मनुष्य मात्र, नहीं-नहीं, प्राणि मात्र की, सेवा ही सच्ची ईश्वर पूजा है, कर्त्तव्य पालन ही प्रभु-पूजा है, हमारे कार्यालय ही सर्वोत्तम साधना स्थली और हमारा कर्म-कौशल ही सच्ची साधना है, योग है आदि सत्यों के रहस्य को हम जानें जिससे प्रभु का प्यारा यह संसार स्वर्गधाम बन जाये। इन्हीं मङ्गल कामनाओं सहित,

मानवता का विनम्र सेवक—प्रेमभिक्षुः

द्वितीय संस्करण

इस अपूर्व और उपयोगी ग्रन्थ का प्रथम संस्करण बहुत पहले ही समाप्त हो गया था। पुस्तक की माँग निरन्तर बनी थी, किन्तु अर्थाभाव से यह पवित्र ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो पा रहा था। सत्य प्रकाशन के अध्यक्ष माननीय श्री श्यामसुन्दर जी के सहयोग से यह उपयोगी ग्रन्थ पुनः प्रकाशित हो सका है। आशा है सत्यान्वेषी पाठक पूर्ववत् स्वागत करेंगे। —प्रेमभिक्षुः

लेखक का संक्षिप्त परिचय

इस ग्रन्थ के लेखक डा० सत्यदेव आर्य, आर्य जगत् के एक गौरव योग्य जाज्वल्यमान रत्न हैं। चिकित्सा क्षेत्र में जहाँ आपने अभूतपूर्व प्रसिद्धि प्राप्त की, वहाँ आर्य समाज के क्षेत्र में भी उत्तरोत्तर ख्याति प्राप्त कर रहे हैं।

आर्यत्व आपकी पैतृक सम्पत्ति है। पिताजी श्री च्यवनजी आर्य, एडवोकेट हाई-कोर्ट जोधपुर और सदस्य राज्य विधान सभा जोधपुर स्टेट (सन्यास के बाद स्वामी चेतनानन्दजी सरस्वती) राजस्थान क्षेत्र में आर्य समाज के प्रमुख स्तम्भ रहे। सामाजिक सुधारों में अग्रणी, दुःखी व पीड़ितों के सच्चे सहायक व अनेकानेक जन कल्याण सेवाओं और संस्थाओं के संस्थापक रहे—जैसे विधवाश्रम, अनाथालय, छात्रावास, वैदिक विद्यालय, गौशाला आदि। मरुधर प्रदेश तो आपका मुख्य कार्यक्षेत्र रहा और वहाँ अधिकांश आर्य समाजों की स्थापना का श्रेय आप ही को रहा। हिन्दू अबलाओं को विधर्मियों के चंगुल से छुड़ाने और उन्हें पुनः स्वधर्म में दीक्षित कराने वाले निर्भीक सेनानी श्री च्यवनजी आर्य (स्वामी चेतनानन्दजी सरस्वती) का त्याग और परमार्थ से परिपूर्ण व्यक्तित्व आर्य जगत् के लिये सदैव अनुकरणीय रहेगा। सरल सात्विक एवं तपस्वी जीवन के धनी श्री स्वामीजी ने ईश कृपा से १०३ वर्ष की परिपक्व व यशस्वी आयु प्राप्त की। इन्हीं पुण्यात्मा के घर डा० सत्यदेवजी आर्य ने दिसम्बर सन् १६१२ में जन्म लिया।

चिकित्सा-विज्ञान की शिक्षा समाप्ति पर डा० आर्य सन्

१९३५ में राजकीय सेवा में प्रविष्ट हुए तथा अपनी कार्यकुशलता, सत्यनिष्ठा, सच्चरित्रता एवं ईमानदारी के परिणामस्वरूप उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए राजस्थान चिकित्सा विभाग के सर्वोच्च पद – निदेशक चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवा—के पद पर आसीन हो पाये और उसी पद पर कार्य करते हुये मार्च सन् १९७१ में सेवा निवृत्त हुए। सन् १९५६ तक आपने सवाई मानसिंह मेडिकल कॉलेज के 'प्रिवेण्टिव एण्ड सोशल मेडिसिन' के अध्यक्ष पद का भी अतिरिक्त कार्यभार सम्भाला और इस विषय के आध्यापन में विशिष्ट ख्याति प्राप्ति की। सेवा काल में आप केन्द्रिय सरकार की अनेकानेक स्वास्थ्य समितियों के अध्यक्ष व विश्व स्वास्थ्य संघ (W.H O.) की क्षेत्रीय समिति में भारतीय शिष्ट मण्डल के सलाहकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए। केन्द्रीय सरकार की ओर से भारत के विभिन्न प्रान्तों में स्वास्थ्य योजनाओं के समीक्षण तथा विश्व स्वास्थ्य संघ की ओर से इङ्गलैण्ड व स्कॉटलैण्ड में वहाँ की राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवाओं के अध्ययन व समीक्षण का कार्य सफलतापूर्वक सम्पादित किया।

सेवा निवृत्ति के बाद वैदिक वाङ्मय के स्वाध्याय व वैदिक मान्यताओं के प्रचार-प्रसार तथा लेखन कार्य में कार्यरत हैं। आप एक उत्तम कोटि के वक्ता भी हैं। आपके प्रवचनों में वेदों में विज्ञान व विज्ञान की छाया में अध्यात्म की अमृतधारा बहती है। आपके लेख भी आर्य पत्र-पत्रिकाओं को गौरवान्वित करते रहते हैं। आप द्वारा लिखित अन्यान्य पुस्तकों में 'गाँवों का स्वास्थ्य'; 'परिवार नियोजन'; हमारा आहार', 'आहार एवं पोषाहार', स्वास्थ्यविज्ञान' आदि कृतियाँ पर्याप्त लोकप्रिय

सिद्ध हुई हैं। 'आहार एवं पोषाहार' व 'स्वास्थ्य-विज्ञान' राजस्थान के विभिन्न विश्वविद्यालयों के गृहविज्ञान के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में पाठ्य पुस्तकों के रूप में स्वीकार हुई हैं, अ.यात्म वि य पर आपकी प्रस्तुत पुस्तक 'उपासना रहस्य' अत्यन्त ही लोकप्रिय हुई है तथा विद्वज्जनों द्वारा सराही गई है। जिज्ञासु महानुभावों की मांग पर इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण अब पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है।

डा० आर्य महर्षि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी "परोपकारी सभा" के सदस्य हैं तथा प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ उप प्रधान रह चुके हैं। कुछ समय के लिये आपने अपनी अवैतनिक सेवाएँ गुरुकुल कांगड़ी को 'निदेशक आयुर्वेद महाविद्यालय' के रूप में भी दीं। इस वर्ष आपको इस गुरुकुल में सीनेट—शिष्ट परिषद् का सदस्य मनोनीत किया गया है।

आपका परिवार एक निष्ठावान् आर्य परिवार है। पारिवारिक दैनिक सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र, वेदपाठ आदि नियमित रूप से होता है। आपकी सौम्या शालीन विदुषी धर्मपत्नी श्रीमती प्रेम आर्य एम. ए. आपके धार्मिक व सामाजिक कार्यों में सदैव सहयोग देती रहती हैं। दो पुत्र हैं; बड़े डाक्टर हैं तथा राजस्थान चिकित्सा सेवाओं में कार्यरत हैं, और छोटे दुबई में प्रख्यातित अमेरिकन संस्थान के प्रशासनिक अधिकारी हैं। पुत्रवधू सौ० का० मीनाक्षी एम. एस .सी., पी. एच. डी. स्थानीय कन्या महाविद्यालय में प्राध्यापिका हैं। परिवारों के वैदिकीकरण की ओर आपकी विशेष अभिरुचि है।

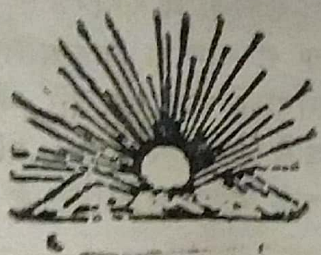
—आचार्य प्रेमभिक्षुः

—०—

अनुक्रमणिका

अध्याय	★	पृष्ठ संख्या

—•—



१

उपासना क्या और क्यों ?

पिता जी प्रार्थना कर रहे हैं, आचार्य जी अर्चना कर रहे हैं, सेठ जी ठाकुर सेवा कर रहे हैं, मास्टर जी माला फेर रहे हैं, पण्डितजी पूजा कर रहे हैं, जज साहब जाप कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि अधिकांश लोग किसी न किसी रूप में ईश्वर स्तुति करते हो हैं और बहुधा प्रातः या कभी-कभी सायंकाल में भी, यदि हम किसी से मिलने जायें या टेलीफोन से पूछताछ करें कि अमुक महाशय जी क्या कर रहे हैं तो कई बार ऐसे उत्तर मिलते हैं। एक भीनी-भीनी हर्ष की अनुभूति होती है यह उत्तर सुनकर। क्योंकि आज के इस युग में जबकि चतुर्दिक भौतिकवाद का बोलबाला है, यदि थोड़ी-सी झलक ईश-भक्ति की दीख पड़ तो इसे हमें अपना सौभाग्य ही समझना चाहिए।

परन्तु यहीं एक प्रश्न उभर कर सामने आ खड़ा होता है कि यदि हम चौबीस घण्टे की भाग-दौड़ में केवल चार चौदह, या चौबीस मिनिट के लिये एकाग्रचित्त न होकर, मन और इन्द्रियों को वश में किये बगैर बाहरी मन से माला फेरें, "राम नाम" का जाप करें, घण्टी बजा-बजा कर भजन कीर्तन करें तो क्या इससे उपासना के उद्देश्य की सिद्धि होगी ? प्रकट है कि इससे ईश-भक्ति की सार्थकता प्राप्त नहीं होती। प्रभु

अपने 'नाम जपन' के भूखे तो हैं नहीं ! वे तो चाहते हैं कि मनुष्य मात्र उनके आदेशों और उपदेशों को समझ, उनका यथार्थ रूप से पालन कर अपना चरित्र-निर्माण कर, मन को पवित्र व शुभ संकल्प वाला बनावें, इन्द्रिय-निग्रह कर सदाचार युक्त सत्कर्म करें अपने आपको समझें, आत्मा के स्वरूप को समझें और आत्मा को परमात्मा में लीन करने का प्रयास करें, तभी हमारी उपासना फलीभूत हो सकती है, तभी वास्तविक सुख-शान्ति और आनन्द प्राप्त हो सकता है। तभी आत्मा को उस परम पिता परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है और तभी हमें सच्चे अर्थों में उपासना का लाभ प्राप्त हो सकता है।

प्रभु ने सृष्टि बनाई। जड़ पदार्थ व चेतन प्राणी उत्पन्न किये। प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य योनि बनाई। जीवात्मा को इसका अधिष्ठाता बनाया। उसे ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अन्तःकरण जैसे अनुपम साधन दिये, जिससे वह प्रभु के आदेशों व उपदेशों को समझ सके और उन पर आचरण कर सके। प्रभु ने सत्य, सनातन, शाश्वत वेदों का ज्ञान दिया जिसके द्वारा सत्याऽसत्य के निर्णय के पश्चात् मानव सत्याचरण कर अपनी सर्वतोमुखी उन्नति और विशेषकर आध्यात्मिक उन्नति कर जीवन-लाभ ले सके।

प्रभु ने मनुष्य मात्र को अन्तःकरण में पल-पल पर उठने वाली धर्माऽधर्म के विवेक की प्रेरणा भी दी है जिसे हम प्रभु की आवाज या अन्तःकरण की पुकार (Conscience) कहते हैं। अन्तःकरण की आवाज हमें सदा सही मार्ग पर ही चलने को प्रेरित करती है। सदा सत्य, धर्म और सदाचार के मार्ग का अवलम्बन करने का ही आदेश देती रहती है। वह कभी यह आदेश नहीं देती कि झूठ बोल, चोरी कर, बेईमानी कर रिश्वत, ले, चोर बाजारी या काला बाजारी कर, खाद्यपदार्थों में या

दवाइयों में मिलावट कर, धोखा धड़ी कर,आततायी बन, अभ्यागत को ठोकर मार, कमजोर पर हाथ उठा, निर्दोष को दोषी ठहरा, व्यर्थ ही ईर्ष्या-द्वेष कर, भाई-भाई का कत्ल कर, अबलाओं का अपहरण कर आदि। अन्तःकरण तो सदा सन्मार्ग ही प्रदर्शित करता है। जिस प्रकार कमरे की दीवार पर लगी घड़ी निरन्तर टिकटिक करती रहती है, पर हम यदि एकाग्रचित्त नहीं हों, आपसी वार्तालाप में मग्न हों, या बाहर शोरगुल हो रहा हो, तो उसकी आवाज का सुन नहीं पाते, इसी प्रकार अन्तःकरण की आवाज को सुनने के लिये भी हमें विषय-वासना व इच्छाओं के धूम-धड़ाके और शोरगुल को बन्द करना होगा, आपसी राग-द्वेष व वैर-भाव को दबाना होगा। उसकी आवाज को अनसुनी करने पर आत्मा में सदा भय, शोक, ग्लानि लज्जा और हीन भावना उत्पन्न होती है। विपरीत इसके अन्तःकरण की आवाज पर आचरण करने वाले व्यक्ति में सदा प्रसन्नता, निर्भयता और उत्साह बना रहता है। वह चरित्रवान व सदाचारी बना रहता है। उपासना से अन्तःकरण निर्मल होता है और उसकी कल्याणकारी प्रेरणा सुनने की क्षमता मानव को प्राप्त होती है।

इन्द्रियों व मन को वश में करने के लिये हमें अष्टांग योग का पालन करना होगा, तभी हमारे मन की एकाग्रता स्थिर होगी, और तभी ध्यान मग्न होकर प्रभु प्रार्थना, आराधना या उपासना करने में हमें यथार्थ सफलता मिलेगी। ऊपरी मन से केवल 'राम-नाम' या "ओ३म्' के जाप से कोई लाभ नहीं होता। साथ ही पुरुषार्थहीन व्यक्ति की प्रभु से ऐसी प्रार्थना पर भी कि "नौकरी दिलादे, तरक्की करादे, व्यवसाय में अधिकाधिक लाभ दिलादे, लॉटरी दिला दे, आदि से भी कोई लाभ नहीं होता। प्रभु एसी प्रार्थनाओं पर ध्यान नहीं देते।

उपासना का मोटे तौर पर अर्थ है उप=समीप+आसन =बैठना, समीपस्थ होना, निकट आसन जमाना, आर्कषित होना आदि। किसी असाधारण गुणों के व्यक्ति को जब हम देखते हैं तो हमारी भी यह अभिलाषा होती है कि उसके जैसे बनें और उसके गुणों को ग्रहण करें। जब कभी भी हम किसी अच्छे खिलाड़ी, पहलवान, कलाकार, संगीतज्ञ, शिल्पकार या चित्रकार आदि की कला का प्रदर्शन देखते हैं तो स्वाभाविक तौर पर हममें यह प्रेरणा उठती है कि हम भी उसके जैसे बनें। हम यह भी प्रयास करते हैं कि उनकी संगति करें और उनके गुणों को ग्रहण करें। अपने-अपने क्षेत्र में ऐसे अल्पज्ञ गुणी व्यक्ति तो हमें अधिकांश मिल जायेंगे पर सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति जिसकी हमें तलाश है और जिसकी संगति वाञ्छनीय है, नहीं मिल पाता। ऐसा व्यक्ति तो केवल एक परम ब्रह्म परमेश्वर ही है, और कोई नहीं। अतः हमें उसी के समीपस्थ होना है। उसी के गुणों को ग्रहण करना है और उसी से अनुनय-विनय करनी है कि वह अपने गुणों की दीक्षा हमें भी दे, चाहे वह आंशिक रूप में ही हो। इसी उद्देश्य से हम प्रभु की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करते हैं।

देव दयानन्द सरस्वती के अनुसार 'उपासना' के पूर्व दो सोपान और हैं—(१) स्तुति, (२) प्रार्थना। स्तुति का अभिप्राय है प्रभु के न्यायकारी दयालु, सच्चिदानन्दादि गुणों का स्मरण, चिन्तन, कीर्तन व श्रवण करना। प्रार्थना का अभिप्राय है पूर्ण पुरुषार्थ के साथ प्रभु के उन गुणों को धारण करने के लिए प्रभु के सहाय की इच्छा करना, जैसे प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, हमें भी वह शक्ति दें कि हम धर्म-पालन और सदाचार का मार्ग अपनायें,

निर्बल और असहाय की रक्षा करें, दुष्टों का दमन करें। प्रभु सत्यवादी हैं, हमें भी वह सत्य भाषण की शक्ति दें। प्रभु निर्विकार, निर्लेप, न्यायकारी, दयालु, दीनबन्धु और दुःखहर्त्ता हैं। हमें भी वह उन्हीं गुणों को अपनाने की क्षमता प्रदान करें, जिससे हम विकार रहित हों, राग, द्वेष, ईर्षा, और वासना से निर्लेप हों, न्याय करें, दीन-दुखियों की सहायता करें, परोपकार की भावना से ओत-प्रोत हों इत्यादि। उपासना का अभिप्राय है ईश्वर के स्वरूप में मग्न होकर उसके सत्य-भाषणादि आज्ञाओं का पालन करना और फलस्वरूप अपने चरित्र का निर्माण करना, शुभ संकल्पों से मन को पवित्र करना और आत्मा को परमात्मा में लीन करने का प्रयास करना।

मन जब शिव संकल्प युक्त होता है और आत्मा का उस पर नियन्त्रण रहता है तभी आत्मा का परमात्मा की ओर झुकाव होने लगता है। तभी भूखी आत्मा की क्षुधापूर्ति होती है। पेट की भूख को मिटाने के लिए हम मुख्यतया दो बार प्रातः सायं भोजन करते हैं। इसी प्रकार भूखी आत्मा को तृप्त करने के लिए भी हमें अनिवार्य रूप से प्रातः सायं दो बार ईश्वर प्रार्थना करनी ही चाहिए। प्रातः जब हम प्रार्थना-उपासना करते हैं तो हम संकल्प करते हैं कि दिन भर सत्य ही बोलेंगे। मृदु भाषण ही करेंगे, अन्यायपूर्ण व्यवहार नहीं करेंगे, चोरी नहीं करेंगे, धोखा-धड़ी नहीं करेंगे, दीन-दुखियों की सहायता करेंगे, धर्माचरण में ही अपनी दिनचर्या व्यतीत करेंगे आदि। सन्ध्या समय हम फिर प्रार्थना-उपासना करके इस बात का लेखा-जोखा लें कि जो संकल्प हमने प्रातः किये थे उन्हें दिन भर निभाया या नहीं। यदि नहीं तो हमने भारी भूल की; और दूसरे दिन उन्हें और भी अधिक दत्तचित्तता से निभाने का फिर से संकल्प करें। इस प्रकार प्रति दिन के दृढ़-निश्चय को दुहराते

रहने और उस पर अमल करते रहने से ही हम अपने चरित्र का निर्माण करने में सफल हो सकेंगे, और इसी सफलता में निहित है "उपासना क्यों" का सच्चा उत्तर।

आत्मा अमर अविनाशी और नित्य है। वह सत् स्वरूप और चित् स्वरूप तो है पर आनन्दस्वरूप नहीं है। सत्-चित् और आनन्द का अपार भंडार तो वह परम ब्रह्म परमेश्वर ही है। अतः आनन्द विहीन आत्मा उस आनन्द के अपार भण्डार की ओर जाने को तड़पता रहता है। उपासना उसी दिव्यानन्द की उपलब्धि का राजमार्ग है।

कर्मफल के अनुसार लाखों योनियों में विचरता हुआ आत्मा जब मनुष्य योनि में आता है तब उसे ईश कृपा से और सौभाग्य से मन, बुद्धि, एवं अन्तःकरण जैसे अनुपम साधन मिलते हैं और इन साधनों से सुसज्जित शरीर रूपी रथ मिलता है जिसमें बैठकर वह उस परमानन्द की प्राप्ति के लिये सफल यात्रा कर सकता है। पर बहुधा ऐसा होता नहीं है। आत्मा इस अमूल्य जन्म को पाकर कुछ इतरा-सा जाता है। अन्य-मनस्क व उदासीन हो जाता है, वह मन, बुद्धि और इन्द्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता दे देता है कि वह जिधर चाहें उसे ले जायें। वह सांसारिक माया मोह की दिशाओं का स्वच्छन्द भ्रमण करने निकल पड़ता है और अपने असली मार्ग व उद्देश्य से भटक जाता है। उसकी यह यात्रा उसे दुःख व क्लेश के गहरे गड्ढे में ढकेल देती ह। माया-मोह के जाल में फँस कर वह राग-द्वेष व विषय वासना की वृत्तियाँ अपना लेता है जो उसे वास्तविक सुख, शान्ति और परमानन्द अर्थात् मुक्ति लाभ से वंचित कर देती हैं और फिर वह उसी कथित चौरासी लाख योनियों के चक्रव्यूह में फँस जाता है।

एक विशाल दुर्ग में एक अन्धा व्यक्ति कारावास भोग रहा है। वह दुर्ग से बाहर निकलने को छटपटा रहा है, पर उसे कोई रास्ता नहीं मिलता। दुर्ग के चौरासी लाख द्वार हैं, पर एक को छोड सभी बन्द हैं। इस दुःखी बन्दी की निःसहाय अवस्था को देख किसी व्यक्ति ने करुणा करके पूछा "क्या चाहते हो? अन्धे बन्दी ने अनुनय-विनय की कि इस दुर्ग से बाहर निकलना चाहता हूँ। यदि कोई मार्ग हो तो कृपया बतायें।" उस व्यक्ति ने अन्धे का हाथ दीवार से टिकाकर कहा कि इस दीवार के सहारे-सहारे आगे बढ़ते जाओ, जहाँ भी खुला द्वार मिले बाहर निकल जाना। अन्धे ने कोटिशः धन्यवाद दिया और दीवार के सहारे-सहारे आगे बढ़ने लगा। पर अन्धा व्यक्ति खुजली के रोग से भी पीड़ित था। जब खुला द्वार समीप आने को होता तभी उसे खुजली उठ जाती और वह दीवार से हाथ हटाकर खुजाने लगता। खुजालते-खुजालते वह खुला द्वार छोड़ आगे निकल जाता और इस प्रकार जब-जब भी खुले द्वार तक पहुँचता तब-तब ही खुजली उठती और वह इस द्वार को छोड़ आगे निकल जाता। खुजली के कारण वह अभागा उस दुर्ग के चक्कर काटता ही रहा। बाहर निकल नहीं पाया।

ठीक यही अवस्था उस आत्मा की है जो ईश्वरीय ज्ञान के अभाव में अन्धा है और विषय-वासना की खुजली से पीड़ित है। चौरासी लाख द्वार भिन्न-भिन्न योनियाँ हैं, जो मुक्ति की दिशा में बन्द हैं। केवल एक ही खुला द्वार मनुष्य योनि का है जिसके द्वारा वह इस जीवन-मरण के कारागार से मुक्त हो सकता है, पर विषय-वासनाओं में फँसकर वह इस खुले द्वार का लाभ उठा नहीं पाता। वह उदासीन बना रहता है और अपने अधिकारों का उचित उपयोग न कर केवल मन और इन्द्रियों के वशीभूत बना बैठा रहता है। इस प्रकार वह अपना

स्वयं का एक तरह से हनन ही करता है। वह अपने वांछित मार्ग से भटक कर फिर उन्ही अन्धकारमय योनियों में चक्कर लगाने लगता है।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।

तास्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।

— यजु० अ० ४० । मंत्र ३ ।।

वह लोग जो अपनी आत्मा का हनन करते हैं वह मर का घोर अन्धकार वाले आसुरी लोकों में जाते हैं। अन्धकार वाले लोक वह शरीर या योनियाँ हैं जिनमें जाकर जीवात्मा की ज्ञान शक्ति बहुत ही परिमित हो जाती है । असुर्य्या शब्द का अर्थ प्रकाश रहित योनियां हैं जिनमें जीवात्मा को भलाई बुराई का विवेक प्राप्त न हो सके। मनुष्य योनि में आकर आत्मा यदि अपना स्वयं हनन करता है, अपने अधिकारों का प्रयोग नहीं करता और मन व इन्द्रियों के आधीन रहता है तो वह इस योनि से निकल कर उन्हीं अन्धकारमय चौरासी लाख या इनसे भी अधिक आसुरी योनियों में विचरता तो रहेगा ही पर जीते जी भी वह अपने इन कर्मों के कारण मरण समान ही बोधित होता है।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य योनि प्राप्त करने पर आत्मा अपने आपको समझे, उदासीनता त्यागे, मन, इन्द्रियाँ व बुद्धि पर अपना पूर्ण नियन्त्रण रखे, ईश्वरीय ज्ञान की ज्योति से अपना अन्धकार दूर करे, वासना की खुजली के विकार को मिटाये और उस परमानन्द को प्राप्त करने के लिए अर्थात् मुक्ति पाने के लिये उपासना की दीवार का सहारा लेकर चौरासी लाख योनियों के दुर्ग से मुक्त हो जावे ।

२

उपासना किसकी ?

उपासना तो केवल एक देवों के देव—परमदेव-परब्रह्म परमात्मा की ही करनी है । युग प्रवर्तक, मानवता के महोपदेशक,ईश्वर के अनन्य उपासक देव दयानन्द ने आर्यसमाज के नियमों में उपासना के प्रति जो नियम निर्धारित किया है उसमें स्पष्ट आदेश दिया है कि "ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है ।" कितने मार्मिक शब्दों में महर्षि ने परमपिता परमात्मा के गुणों का वर्णन करते हुए हमें यह आदेश दिया है कि उपासना के योग्य केवल वह परमपिता परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं । वह देवों का देव है । उसी में अन्य सब देव समाये हुए हैं, उसी में यह सारी सृष्टि समाई हुई है, और वह स्वयं सृष्टि के एक-एक कण में समाया हुआ है, वह सृष्टिकर्त्ता है अतः सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था, अब है और आगे भी रहेगा । सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय का यह क्रम उसी के इशारे पर चलता ही रहेगा ।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—यजु० अ० १३। मं० ४

कितना सुन्दर वर्णन किया है उस सृष्टिकर्ता प्रभु की सार्वभौम सत्ता का इस वेद मन्त्र में, जिसका पाठ हम प्रतिदिन अपनी ईश्वरोपासना में करते रहते हैं। वह (हिरण्यगर्भः) स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा जिसने सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थों को उत्पन्न करके धारण किया हुआ है, जो (भूतस्य) उत्पन्न किये हुए सम्पूर्ण जगत का (जातः) प्रसिद्ध (पतिः एकः) एक मात्र स्वामी (आसीत्) था, जो (अग्रे) सब जगत के उत्पन्न होने से पूर्व (समवर्त्तत) वर्तमान था, विद्यमान था और (सः) वह (इमाम्) इस (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य आदि को (दाधार) धारण कर रहा है अर्थात् अभी भी विद्यमान है। उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) देव परमात्मा की (हविषा) ग्रहण करने योग्य साधन सामग्री से, योगाभ्यास आदि से अति ही प्रेम पूर्वक (विधेम) भक्ति विशेष किया करें।

प्रभु की सत्ता

प्रभु हमारे सौर मण्डल के सूर्य, चन्द्र, पृथिवी और सभी नक्षत्रों और इसी प्रकार के असंख्य अन्य-अन्य सौर मण्डलों को अपनी अपार शक्ति से व्यवस्थित किए हुए है जिससे उनके निर्धारित समय की चाल में एक पल का भी अन्तर नहीं आता यह कहना-जैसा कि कुछ लोग कहा करते हैं कि ईश्वर है ही नहीं, केवल प्रकृति ही सब कुछ है और यह सूर्य, चन्द्र, पृथिवी नक्षत्र आदि सभी अपनी-अपनी पारस्परिक आकर्षण शक्ति के आधार पर, बिना ईश्वर की सत्ता के अपने स्थान पर नियन्त्रित हैं—नितान्त अज्ञान मूलक है।

आकर्षण शक्ति तो अवश्य है पर इसे भी नियन्त्रित

करने वाली कोई महान् शक्ति भी तो है जो इन्हें अपने-अपने गुरुत्वाकर्षण में बांधे हुए है, और इन्हें अपनी धुरी पर भी नियमित रूप से घुमाये रखती है, जिससे दिन रात और सामयिक ऋतु आदि होते हैं। प्रकृति यदि स्वतः ही अपना कार्य-कलाप करती तो आखिर यह प्रकृति सर्वप्रथम बनी कैसे ? किसने सूर्य में यह चिरस्थाई अग्नि, तेज और प्रकाश दिया ? किसने पृथिवी आकाश, वायु और जल बनाये ? इस पृथिवी पर यह अथाह सागर, यह ऊँचे-ऊँचे पहाड़, यह कन्दराएं यह दावानल उगलते हुए ज्वालामुखी पहाड़,यह स्रोत, झरने, नदी नाले, यह वनस्पति, पेड़-पौधे और चेतन प्राणी सर्वप्रथम किसने बनाये ? किसने वह चौरासी लाख योनियाँ बनाई और क्यों ? किसने खूँखार हिंसक जानवर और विषैले जीव-जन्तु बनाये और क्यों ? प्रणियों में अण्डज (अण्डों से पैदा होने वाले) और जरायुज (गर्भ से पैदा होने वाले) प्राणियों की पैदाइश किसने निर्धारित की ? प्राणियों में नर और मादा किसने बनाये ? एक छोटे से बीज से इतने बड़े-बड़े विशाल वृक्ष कैसे उत्पन्न हुए ? वृक्षों व पौधों में खट्टे-मीठे फल कन्दमूल आदि किसने पैदा किये ? एक ही बीज से भाँति-भाँति के कच्ची फुलवाद के पौधे और उनमें रंग-बिरंगे फूलों का निर्माण किसने किया ? सूक्ष्म से सूक्ष्म केवल खुर्दबीन से देखे जाने वाले कीटाणु (Bacteria) और साधारण खुर्दबीन से भी नही देखे जाने वाले कीटाणु (Virus) जो अन्य प्राणियों के लिये हितकारी (Saproph tes) व हानिकारक (Pathogenic) सिद्ध होते हैं, किसने बनाये और क्यों ? यह कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर हमारे आज के बड़े-बड़े वैज्ञानिक दे नहीं पाते और न हीं कभी भविष्य में दे पायेंगे।

एक कुशल शिल्पी जब अत्यन्त ही सुन्दर मूर्ति बना॰

हमें दिखाता है तो हम उसकी कला की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। उसकी मेहनत का समुचित पारिश्रमिक देकर मूर्ति खरीदते हैं। मूर्तिकार को मूर्ति बनाने में अनेकानेक पदार्थों का संग्रह करना पड़ता है जैसे धातु, खड़िया मिट्टी, चिकनी मिट्टी, प्लास्टर, बजरी, सीमेन्ट, रङ्ग, रोगन, पालिश, पेच-पुर्जे फर्मे आदि जो उसके स्वयं के पैदा किये हुए या बनाये हुए नहीं हैं। फिर मूर्ति तो उसने बना दी पर उसमें उसकी स्वतः की चेतना या हरकत पैदा नहीं कर सका।

प्रभु का रचना-कौशल

एक वैज्ञानिक अति ही उत्तम मशीन बनाता है और उसमें हरकत भी पैदा करा देता है, पर वह हरकत उस मशीन की नहीं होती। उसमें भी अग्नि का सहारा लेना पड़ता है चाहे वह विद्युत से हो या पेट्रोल डीजल आदि से। इस पर भी वह मशीन स्वतः हो चलने या रुकने काबिल नहीं होती। उसे चालक की आवश्यकता होती है। लेकिन जिस महान् शिल्पकार ने मनुष्य योनि जैसी सर्वश्रेष्ठ मूर्ति या मशीन अपने स्वयं के उत्पन्न किये हुये पदार्थों से बना दी, जिसमें उसकी स्वतः की हरकत, गति व चेतना दी, और जिसे चलाने के लिए किसी चालक की आवश्यकता भी नहीं रक्खी, ऐसे महान् शिल्पकार के अलौकिक कला-कौशल का हम कभी भूले भटके ध्यान तक नहीं कर पाते, यह हमारी कितनी बड़ी कृतघ्नता है। कितना कल्याणकारी सत्य चित्रित किया है, कविवर जयशंकर प्रसाद ने—

हे विराट ! हे विश्वदेव !! तुमकुछ हो ऐसा होता भान
धीर गंभीर शान्त स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान

मनुष्य शरीर की रचना पर यदि हम थोड़ा सा भी विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि वह महान् शिल्पी कितना अद्वितीय कलाकार, वैज्ञानिक, व अनन्त विद्या मय का कोष है जिसका कोई पार नहीं। हड्डियों के ढाँचे पर रक्त मांस से बने अंग-प्रत्यंगों का निर्माण कर उस परम पिता परमात्मा ने कितना सुन्दर और आकर्षक मनुष्य शरीर बनाया है। ज्ञान-विज्ञान व भौतिक शास्त्रादि के प्रयोग का कितना अत्युत्तम परिचय दिया है, यह विचारणीय विषय है।

प्रभु ने मनुष्य शरीर बनाया और उस पर त्वचा रूपी सूट पहनाया। यह सूट शरीर से इतना सटा हुआ होने पर भी इतना लचीला है कि हम चाहें जिस करवट बैठें हमें किसी प्रकार की अड़चन व असुविधा नहीं होती, जबकि आजकल की फैशन के अनुसार हमारे स्वयं के बनाये चुस्त कपड़े, सूट हमें आसानी से मनचाही हरकत भी नहीं करने देते। उस प्रभु ने इसी त्वचा सूट में सूक्ष्म से सूक्ष्म छिद्र भी दिये हैं जिससे शरीर का विकार पसीने के साथ बाहर निकलता रहे। स्थान-स्थान पर तेल जैसा चिकना पदार्थ पैदा करने वाली छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ भी दी हैं, जिससे खुश्की आदि से होने वाली क्षति का स्वतः ही निराकरण होता रहे। जगह-जगह पर छोटे-छोटे रोएँ खड़े कर दिये जो ब्रुश की तरह धूल मिट्टी के कणों को हटाकर फेंकते रहें और सूट की सफाई रखते रहें। अधिक महत्व के स्थानों पर तो बालों के अच्छे खासे बड़े-बड़े ब्रुश दे दिये हैं जैसे आँखों की पलकों, नाक के नथुओं और कानों की नलियों में जो बाहरी हवा में उड़ने वाले इसी प्रकार के कणों को भीतर जाने ही नहीं देते। सूट पर निरन्तर रगड़ लगने वाले स्थानों पर आवश्यकतानुसार एक से अधिक परतें लगाकर उचित मोटाई दे दी जिससे यह उन स्थानों पर विशेष क्षतिग्रस्त न हो—फटने न पायें, जैसे कोहनी, टखने, हाथ की हथेलियाँ और पावों के तलवे। सूट में सुन्दरता और डिजाइन के लिए हल्के गहरे

गेंहुआ और रक्तवर्ण। रङ्ग भी दे दिये जैसे श्याम, गौर, पीत, सूट में बटन भी तो चाहिए ! प्रभु ने यह भी नाखूनों के रूप में दे दिये। हाथ पाँव की उँगलियों पर आगे पीछे से आकर मिलने वाली त्वचा को यह बाँधे रखते हैं और उँगलियों को चोट आदि से भी बचाये रखते हैं। मस्तिष्क पर घने बालों की पगड़ी भी पहना दी। स्वामित्व निर्धारण के लिए शक्ल सब की अलग-अलग बनाई और हथेलियों व उँगलियों पर ऐसी रेखायें जड़ दीं कि वह एक दूसरे से कभी मेल ही नहीं खातीं। व्यक्ति की पहचान के लिये अँगूठे और उँगलियों के निशान को न्याय ने भी सर्वोच्च महत्व दिया है। इस सबके उपरान्त उस प्रभु ने इसी त्वचा में वह ज्ञान इन्द्रिय भी स्थापित कर दी जिससे हम स्पर्श ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं--कठोर, कोमल, ठंडा, गरम, ठास, द्रव आदि और पीड़ा का अनुभव भी इसा के द्वारा कर पाते हैं।

आँखों की रचना में तो प्रभु ने अपने भौतिक विज्ञान का बड़ा ही विलक्षण परिचय दिया है। भौतिक विज्ञान का सिद्धान्त है कि प्रकाश की किरणें जब हल्के या विरल माध्यम (Rarer medium) से सघन माध्यम (Denser medium) में प्रवेश करती हैं--जैसे हवा से पारदर्शी द्रव पदार्थ या काँच की लेन्स (Lens) में, तब ये किरणें अभिसारित (Converge) होती हैं और वह अभिलषित केन्द्र पर केन्द्रित की जा सकती हैं।

इसी सिद्धान्त पर प्रभु ने आँख की रचना एक कैमरे (Camera के रूप में की है और उसमें प्रकाश की किरणों को सघन माध्यमों में अभिसारित कर ज्ञान-पर्दा (Retina) पर केन्द्रित करने की व्यवस्था की है। हमने भी आँख के कैमरा की नकल कर अच्छे से अच्छे और कीमती से कीमती कैमरे

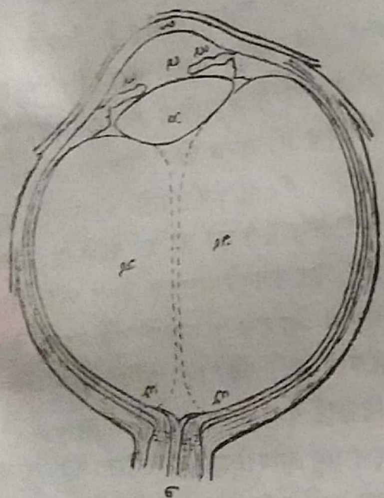
बनाये, पर प्रभु की देन के समक्ष हमारा यह प्रयास सर्वथा फीका ही रहा, क्योंकि इन्हें हम स्वचालित और स्वावलम्बी नहीं बना पाये।

आँखों की रचना में प्रभु ने आँखों के संरक्षण के लिए पलकें बनाईं और उन पर बालों के ब्रश दिये। यह आँधी, धूल, धूप, धुँआ और तेज प्रकाश से आँखों को बचाये रखती हैं अतः स्वतः ही लगातार झपकती रहती हैं। इनके झपकते रहने से रगड़ पैदा होती है जिसके प्रभाव को कम करने के लिए प्रभु ने कनपटी की ओर प्रत्येक आँख में एक-एक ग्रन्थि दी है जो एक प्रकार का पारदर्शी तरल पदार्थ निकालती रहती है। यह तरल पदार्थ आँख में मिट्टी, कोयला आदि के गिरने पर अधिकता से निकल कर इन्हें बाहर बहा देता है। भावावेश में यह तरल आँसुओं के रूप में अत्यधिक बह निकलता है। प्रभु ने आँख पर घड़ी के काँच की तरह कोरनिया (Cornea) बनाया जो सूक्ष्म कोशिकाओं (Cesll) की बनी ६ परतों का बड़ा ही मजबूत तत्व है। प्रत्येक सेल को जीवित रहने के लिए रक्त संचित आहार चाहिए, पर इसकी असंख्य सेल्स को रक्त की आवश्यकता नहीं होती, चूंकि इसे पारदर्शी बने रहना है। अतः प्रभु ने इसमें रक्त संचार नहीं किया। यदि इसमें रक्त संचार हो जाता तो हमें दिखाई देना असम्भव हो जाता।

सारे शरीर में केवल यह कोरनियाँ व आँख की लेन्स ही ऐसे तत्व हैं जिनमें रक्त नहीं पहुँचता। कोरनिया व उसके पीछे काली पर्दा (Iris) के बीच में एनटोरियर (anterior chamber) में फिर एक पारदर्शी द्रव पदार्थ रहता है जो कोरनियाँ को खुराक भी पहुँचाता है और प्रकाश की किरणों को भी कुछ अंश तक अभिसारित करता है। (Iris) में छिद्र है जिसे पुतली कहते है और यह डायाफ्रम का काम करती है, पुतली

को स्वतः ही छोटा बड़ा करके प्रकाश की किरणों को नियंत्रित करती है। (Iris) के पीछे लेन्स स्थित है। लेन्स के पीछे काफी मात्रा में गाढ़ा द्रव पदार्थ है जिसे विट्रियस (Vitreous) कहते हैं और यह कैमरे की फिल्म-ज्ञानपर्दी को स्थित रखता है। इसमें से होकर प्रकाश की किरणों को ज्ञानपर्दी तक पहुँचने के लिए मार्ग बना हुआ है। प्रकाश की किरणों, पारदर्शी कोर-निया, भीतर तरल पदार्थ और लेन्स में से होकर गुजरते समय अभिसारित (Converge) होती है और ज्ञान-पर्दी पर केन्द्रित होकर गिरती हैं जिससे उस पर दृष्टव्य पदार्थों का चित्रण होता है।

मानव-नेत्र



१. कोरनिया
२. एण्टीरियर चेम्बर (anterior Chamber)
३ आइरिस (Iris)
४. लेन्स (Lens)
५. विट्रियस(Vitreous)
६. ज्ञान-पर्दी (Retina)
७ दृष्टि ज्ञानतन्तु (OptiC Nerve)

[चित्र सं० १]

हमारे बनाये कैमरा में एक चित्र लेने के बाद फिल्म को बदलना पड़ता है पर प्रभु के बनाये इस कैमरा में फिल्म बदलने की कोई आवश्यकता नहीं होती। प्रभु ने यहाँ एक ऐसा तत्व दिया है जिसे रोडोप्सीन (Rhodopsin) कहते हैं और जो विटामिन 'ए' की सहायता से ज्ञान-पर्दी की खोई हुई

शक्ति को फिर से पनपाता रहता है। विटामिन 'ए' हम दूध, दही, मक्खन, पनीर, गाजर व हरी सब्जियों से प्राप्त करते रहते हैं। विटामिन 'ए' के अभाव में नेत्र-ज्योति में कमी अनुभव होने लगती है और विशेषकर रात्रि में। विशेष विस्तार में न जाकर आँख की बनावट का केवल इतना सा बोध ही हमारे लिये उस परम पिता परमात्मा की विज्ञान शक्ति का अनुमान लगाने के लिये पर्याप्त है।

इसी प्रकार अन्य अवयवों की भी प्रभु ने ऐसी ही बारीकी से रचना की है। संक्षेप में हम केवल मुख्य बारीकियों पर ही दृष्टिपात करेंगे।

रसना इन्द्रियों को ही लीजिये। जिह्वा के अग्र भाग पर मीठे का, किनारे पर नमकीन व खट्टे का, और सबसे पीछे के भाग पर कड़वे का आभास दिया। क्यों? इसलिये कि वह दयालु प्रभु यह नहीं चाहता कि थोड़ा सा भी कड़वा पदार्थ जिह्वा के सम्पर्क में आते ही हमारा सारा मुँह कड़वा हो जाये और हम थू-थू करते नजर आवें। जिह्वा को इतना कोमल व लचीला इसलिये बनाया कि वह मुँह में सब ओर घूम जाये और भोजन के छोटे से छोटे कण को अपने अन्दर समेट कर गले में उतार दे। भोजनोपरान्त मुँह और दाँतों को साफ भी कर दे। दाँतों में फंसे भोजन के कणों को निकाल कर दाँतों की यथावत् सफाई कर दे। सब तरह के पदार्थों के सम्पर्क में आने पर भी जैसे चिकनाहट आदि, यह स्वयं उनसे लिप्त नहीं होती। लचीली होने से बोल-चाल में भी शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण कराने में सहायक होती है।

उस महा वैज्ञानिक ने नासिका को शरीर के समतल भाग से आगे की ओर निकाले हुये रक्खा है ताकि सूक्ष्म से सूक्ष्म घ्राण-सुगन्ध या दुर्गन्ध तुरन्त निर्विघ्न पकड़ सके। घ्राण इन्द्रिय

के ज्ञान तन्तु सब से ऊपरी भाग में रक्खे ताकि नासिका के किसी प्रकार से क्षति ग्रस्त होने पर भी इनको कोई हानि नहीं पहुँचे। नाक के मध्य भाग में पड़दी देकर श्वास के आने जाने के लिए दोहरा मार्ग बता दिया ताकि किसी कारणवश एक मार्ग अवरुद्ध हो जाय तो दूसरे से श्वास आता जाता रहे। नाक की कोशिकाओं में आवश्यकतानुसार गरमी व नमी भी दी जिससे बाहरी हवा यदि ठण्डी हो या खुश्क हो तो श्वास के साथ अन्दर जाते समय शरीर को गरमी के परिमाण में गरम हो सके और नमीदार भी।

कान की पड़दी पर बाहरी हवा का दबाव रहता है और यदि इतना ही दबाब पड़दी के अन्दर की ओर न रहे तो पड़दी अन्दर की ओर झुकी ही रहेगी और सहसा भारी दबाव पड़ने पर—जैसे जोर की आवाज, चीख, तोप की गड़गड़ाहट आदि से पड़दी के अन्दर को ओर अत्यधिक झुकाव होने से उसके फटने का डर रहता है। अतः उस अद्वितीय विज्ञानवेत्ता प्रभु ने पड़दी के अन्दर की ओर भी बाहरी हवा के समतुल दबाब रखने हेतु कान के भीतरी भाग को एक विशेष नली से गले के साथ जोड़ दिया है, जिससे बाहरी हवा गले में से कान के भीतरी भाग में जा सके और बाहर अन्दर एक सी हवा का दबाब बना रहे।

गले में उस दयालु प्रभु ने वोणा के ऐसे तार कस दिये हैं कि उनमें कम्पन होते ही मधुर और तीव्र सुरों की आवाज निकलने लगती है और सातों सुरों की रागनियाँ गूंजने लगती हैं। गले में सांस की नली पर ऐसी रक्षात्मक पड़दी लगा रक्खी है कि केवल सांस ही भीतर आ जा सके, भोजन या पानी उसमें न जा सके।

हड्डियों में तो रक्त कणों के निर्माण का एक अच्छा खासा

कारखाना लगा रखा है जिसमें रक्त कण स्वतः ही निर्मित होकर रक्त वाहिनी धमनियों में प्रवाहित होते रहते हैं।

मस्तिष्क, हृदय, फेफड़े, आमाशय, आंतों, गुर्दे, जिगर पेनक्रियाज आदि अवयवों की रचना और उनकी पेचीदा कार्य विधि व कार्य क्षमता पर यदि सामान्य प्रकाश भी डाला जाय तो एक खासा बड़ा सा ग्रन्थ ही लिखना पड़े। अतः इनके बारे में केवल इतना सा दिग्दर्शन कराना ही समुचित होगा कि प्रभु ने इनमें ऐसी दिव्य शक्ति दी है कि यह अपना कार्य स्वतन्त्ररूप से निरन्तर करते रहते हैं, इन पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं रहता, जब कि हमारी ज्ञान व कर्म इन्द्रियों पर हमारा नियन्त्रण अवश्य रहता है जो मस्तिष्क से होता है। इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश अगले अध्याय में डाला जायगा जब हम मन, बुद्धि, चित्त और आत्मा के सम्बन्ध में विचार करेंगे। अभी तो यह सब लिखने का केवल मात्र अभिप्राय इतना ही है कि हम उस सर्व-शक्तिमान्, विज्ञानमय, आनन्दघन प्रभु की सत्ता, विलक्षण क्षमता और उसकी कारीगरी का एक अंश मात्र आभास प्राप्त कर सकें।

ईश्वर कहाँ है और क्या करता है ?

कभी कभी हम यह प्रश्न कर बैठते हैं कि प्रभु यदि है तो दिखाई क्यों नहीं देता ? ऐसा ही प्रश्न एक बार बादशाह अकबर ने बीरबल से किया था कि "ईश्वर कहाँ है ? क्या करता है ? और दिखाई क्यों नहीं देता" बीरबल थोड़ी देर तक सोचता रहा और फिर बोला 'जहाँपनाह इन प्रश्नों के उत्तर कल दूंगा"। बादशाह ने कहा 'अच्छा कल ही सही"।

बीरबल घर आया। बहुत देर तक विचार मग्न बैठा प्रश्नों के उत्तर सोचता रहा। इतने में उसका नन्हा लड़का आया और पिता को चिन्तित अवस्था में देख चिन्ता का कारण

पूछा। बीरबल ने कारण बता दिया। लड़के ने कहा कि "इसमें चिन्ता की क्या बात है ? इन प्रश्नों का उत्तर मैं दे सकता हूँ" बीरबल ने कहा "अच्छा बताओ"। लड़के ने कहा—"आपको नहीं बादशाह को ही बतलाऊँगा; मुझे उनके पास ले चलो"। बीरबल दूसरे दिन अपने लड़के को लेकर दरबार में पहुँचा और बादशाह से बोला—"श्रीमन्, आपके प्रश्नों का उत्तर यह बालक देगा"। बादशाह ने आश्चर्य से बालक को देखा और बोला—" इतने मार्मिक प्रश्नों का उत्तर यह बालक कैसे दे सकता है ?" फिर बोला "अच्छा बच्चे बताओ हमारे प्रश्नों का क्या उत्तर है ?"।

बच्चे ने कहा "जहाँपनाह आप कैसे बादशाह हैं ? मैं तो पहली ही बार आपके सामने उपस्थित हुआ हूँ और आपने मुझे कुछ खाने पीने को भी नहीं पूछा"। बादशाह कुछ सटपटाये और बोले "अच्छा बताओ, क्या खाओगे" ? लड़का बोला "मैं तो बच्चा हूँ सिर्फ दूध ही पिऊँगा" बादशाह ने तुरन्त दूध का कटोरा मंगवाया और बोले "लो बच्चे यह दूध पिओ"। बच्चे ने कटोरा हाथ में लेकर उसमें गौर से देखा और फिर अंगुली डालकर कुछ निकालने का सा अभिनय किया। बादशाह ने पूछा "यह क्या कर रहे हो बच्चे, दूध पीते क्यों नहीं, क्या ढूंढ़ रहे हो, इसमें ? लड़के ने कहा "जहाँपनाह मैं इसमें मक्खन ढूंढ़ रहा हूँ,'। बादशाह ने हंसकर कहा 'मक्खन तो इसमें है पर ऐसे ही कैसे मिलेगा ? दूध को जमाना होगा, फिर बिलोना होगा, तब कहीं जाकर इसमें से मक्खन निकलेगा।" लड़के ने कहा "जहाँपनाह, आपके पहले और तीसरे प्रश्न का उत्तर भी यही है। ईश्वर सब जगह है जैसे मक्खन दूध में, पर वह दिखाई तभी देता है जब ध्यान धारणा का जामन लगा कर उपासना की मथनी से बिलोया जाय, तभी उस प्रभु के अपने अन्दर ही

दर्शन होते हैं" बादशाह ने कहा—"शाबाश बच्चे ! तुमने मेरे दो प्रश्नों का उत्तर तो बड़ी ही उत्तमता से दे दिया। अब यह बताओ कि ईश्वर क्या करता है ?"

लड़के ने कहा "श्रीमन् ! यह प्रश्न श्रद्धा से शिष्य बन कर पूछ रहे हैं या वैसे ही"। बादशाह ने कहा "शिष्य बन कर"। तब तो बालक ने बादशाह की मीठी चुटकी ली और बोला "आप कैसे शिष्य हैं ? गुरु नीचे कदमों में खड़ा रहे और शिष्य ऊँचे सिंहासन पर बैठा रहे"। बादशाह शर्मिन्दा हुए और उठकर नीचे उतर आये। लड़के से कहा "बच्चे, तुम जाकर सिंहासन पर बैठो"। जब लड़का सिंहासन पर बैठ गया तब बादशाह ने पूछा "अब बताओ मेरे दूसरे प्रश्न का उत्तर क्या है ?" लड़के ने कहा 'ईश्वर यही करता है जो अभी हुआ है। कर्मानुसार राजा को रंक व रंक को राजा बना देता है"।

कितना सुन्दर उत्तर दिया लड़के ने बादशाह के प्रश्नों का ! ठीक ही तो है। लकड़ी में अग्नि है पर दिखाई नहीं देती। दिखाई देती है केवल उसी स्थिति में जब उसमें दूसरी लकड़ी से रगड़ पैदा की जाती है जिसके फलस्वरूप चिनगारियाँ निकल कर आग प्रज्वलित होती है। वायु बहता रहता है पर दिखाई नहीं देता। केवल उसके द्वारा त्वचा के स्पर्श से ही उसकी विद्यमानता अनुभव की जा सकती है। फूलों में सुगन्ध है पर उसे कौन आँख से देख पाता है ? नाक से सूंघकर उसका अनुभव करते हैं, हम। किसी के सिर में या पेट में दर्द होता है तो उसे कहाँ देख पाते हैं, हम ? स्वयं दर्द से पीड़ित व्यक्ति भी उसे देख नहीं पाता। केवल उसका अनुभव ही कर पाता है। तो जो वस्तु जिस इन्द्रिय का विषय है, उसी से हम उसे जान या देख सकते हैं।

प्रभु सृष्टि के कण कण में विद्यमान है; सर्वज्ञ है अनन्त है

और निराकार है। पर वह तो इन्द्रियातीत है वह हमारी अल्पज्ञ इन्द्रियों से देखा या पहिचाना नहीं जा सकता। मन और बुद्धि की पहुँच से भी वह परे है। उसे देखने के लिये आन्तरिक दृष्टि को अभ्यस्त करना होगा। आत्म दर्शन से ही परमात्म दर्शन सम्भव है। उसे पाने के लिए ग्रन्थियों को खोल कर सारे संशयों को दूर करना होगा। सत्कर्म के साथ ध्यान धारणा और समाधि का सहारा लेना होगा, तभी उसकी बांकी झांकी हो सकेगी :—

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्ट्वा पराऽवरे॥

—मु०. ३य. २. २-८.

"जब हृदय की अविद्या और अज्ञानरूपी गांठ कट जाती है, जब सारे संशय छिन्न हो जाते हैं, दुष्ट कर्म क्षय हो जाते हैं तभी वह परमात्मा जो आत्मा के भीतर व बाहर व्यापक है आत्मा को दिखाई देता है। कवि ने कितने बड़े सत्य को सरलतम शब्दों में बांधा है—"उसके पाने का तरीका अपने खो जाने में है।

खोज फिरा जगती का कण-कण प्रियतम तेरा पता न पाया
पाया पता 'प्रकाश' तुम्हारा तो फिर अपना पता न पाया

ईश्वर ही उपास्यदेव

एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि हमारे आर्ष ग्रन्थों में विविध देवताओं का भी वर्णन है और उनकी उपासना करने का भी विधान है तब यह कहना कि उपासना केवल एक परब्रह्म परमेश्वर की ही करनी योग्य है कहां तक समीचीन है? यह ठीक है कि वेदों में देव शब्द आता है और देव या देवता पूजनीय कहे गये हैं। पर वे केवल पूजा के योग्य बताये गये हैं, उपासना के योग्य नहीं। महर्षि दयानन्द ने देव का अर्थ दान

देने वाला बतलाया है और दान का अर्थ बतलाया है अपनी चीज दूसरे के अर्थ दे देना। सूर्य, चन्द्र, बिजली, अग्नि, वायु आदि देव कहलाते हैं क्योंकि वह अपना सर्वस्व दूसरों के लिए—प्राणी मात्र के हित में—समर्पित किये हुए हैं। माता, पिता, आचार्य, अतिथि आदि भी पालन करने और सत्योपदेश आदि से हमारा हित करने के कारण देव कहाते हैं। यह सब पूजनीय हैं। पर यह सब परमेश्वर के प्रकाश से ही प्रकाशित हैं और उसी के दिये हुए गुणों को धारण किये हुए हैं, अतः परमेश्वर ही देवों का देव है और उपासनीय है। अन्य देवता केवल पूजनीय अर्थात् आदर सत्कार के योग्य हैं। महर्षि ने ऐसे देवताओं की संख्या ३३ बतलाई है, जो निम्न प्रकार है :—

८ वसुः—अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र। यह वसु इसलिए कहलाते हैं कि सृष्टि के सभी पदार्थ इन्ही में बसते हैं।

११ रुद्रः-दस प्राण अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, व धनञ्जय और ११ वां जीवात्मा। इन्हें रुद्र इसलिये कहा गया है कि जब यह शरीर से निकल जाते हैं, मृत्यु हो जाती है तब यह स्वजन व सम्बन्धियों को रुलाते हैं।

१२ आदित्यः—वर्ष के बारह महीने। यह आदित्य इसलिये कहाते हैं कि यह जगत् के सभी पदार्थों का आदान करते हैं। अर्थात् सबकी आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं।

१ इन्द्रः—जो ऐश्वर्य का दाता है। इन्द्र नाम बिजली का भी है।

१ प्रजापतिः—यज्ञ को प्रजापति कहा है क्योंकि इससे वायु और वृष्टि-जल की शुद्धि से प्रजा का पालन होता है। यज्ञों में ब्रह्म यज्ञ (उपासना) देव यज्ञ (अग्निहोत्र) पितृ यज्ञ

(माता पिता व आचार्य का आदर सत्कार) अतिथि-यज्ञ (अतिथि की आदर सत्कार से सेवा) और बलि-वैश्वदेव यज्ञ (प्राणी मात्र में लिये हित साधन) महायज्ञ कहे गये हैं।

देव दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उपासना विषय पर प्रकाश डालते हुए वेद मन्त्रों के प्रकाश में बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से यह स्पष्ट किया है कि उपासना केवल एक परब्रह्म परमेश्वर की करनी चाहिये जो सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान्, ज्ञान व विज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप और शान्तस्वरूप है और जो सृष्टि का धारण, पालन और वियोग करने वाला है।

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १
अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ २
अम्भो अरुणं रजत रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ ३
उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥ ४
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥ ४

अथर्व० कां १३ अनु० ४ म० ५०-५३

भूवानरात्या शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः
प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ५

अथर्व कां १३ अनु० ४ म० ४७

(अम्भः) हे भगवन् ! आप सब में व्यापक, शान्त स्वरूप और प्राणों के भी प्राण हैं तथा (अम्भः) ज्ञानस्वरूप और ज्ञान को देनेवाले हैं। (महः) पूज्य हैं सबके बड़े हैं और (सहः) सबके सहन करने वाले हैं ; (इति) इस प्रकार का (त्वा) आपको जानके (वयम्) हम लोग सदा (उपास्महे) उपासना करते हैं। (१)

हे प्रभो ! आप (अरुणम्) प्रकाशस्वरूप सब, दुःखों को नाश करने वाले तथा (रजतम्) प्रीति के परम हेतु आनन्दस्वरूप (रजः) सब लोकों के ऐश्वर्य से युक्त, (सहः) और सहन शक्ति वाले हैं इसलिए हम लोग आपकी उपासना निरन्तर करते रहें। (२)

(उरुः) आप सब बल वाले (पृथुः) आदि अन्त रहित तथा (सुभूः) सब पदार्थों में अच्छी प्रकार से वर्तमान (भुवः) सबके निवास स्थान हैं। इस कारण से हम लोग आपकी ही उपासना करके आपके ही आश्रित रहते हैं ॥ ३ ॥

(प्रथो वरो) हे परमात्मन् ! आप सब जगत् में प्रसिद्ध और उत्तम हैं (व्यचः) सब प्रकार से इस जगत का धारण, पालन और वियोग करने वाले तथा (लोकः) सब विद्वानों के देखने अर्थात् जानने के योग्य केवल आप ही हैं, दूसरा कोई नहीं। अतः हम आप ही की उपासना करते हैं ॥ ४ ॥

(त्व इन्द्र हे जगदीश्वर ! आप (शच्याः) सब प्रजा, वाणी और कर्म इन तीनों के (पतिः असि) पति हैं तथा (भूवान्) सर्व-शक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त हैं. जिससे आप (अरात्याः) दुष्ट प्रजा, मिथ्या रूप वाणी और पाप कर्मों को विनाश करने मे अत्यन्त समर्थ हैं तथा आपको (विभूः) सब में व्यापक और (प्रभूःइति) सब सामर्थ्य वाले जान के (उपास्महे) हम लोग आपकी उपासना करते हैं ॥ ५ ॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमपिता परमात्मा देवों का देव है. सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अनन्त विद्या और विज्ञान का भण्डार है, प्रकाशस्वरूप है। उसी परम देव परमात्मा की उपासना करना योग्य है।

—※—

३

उपासना कौन करे ?

अब तक हमने उपासना की आवश्यकता पर विचार किया और इस तथ्य पर भी दृष्टिपात किया कि उपासना केवल एक ही देवों के देव परम देव परमात्मा की करनी उचित है।

अब यदि हम यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि उपासना कौन करे तो आप शायद यही कहेंगे कि यह क्या बेतुका प्रश्न है ! उपासना की स्वतन्त्रता तो मानव मात्र को है अतः मानव-मात्र को उपासना करनी चाहिये। ठीक है, मानव-मात्र उपासना करे, पर मानव शरीर में कौन तत्व है जो उपासना करे ?

पीछे हम विचार कर चुके हैं कि ईश-प्राप्ति में सहायक होते हुए भी इन्द्रिय-मन और बुद्धि की पहुँच परमात्मा तक नहीं है। तब उपासना कौन करे ? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—आत्मा ! पर यह ईशोपासना का एकमात्र अधिकारी आत्म-तत्व है क्या ? आयें हम आगे के कुछ पृष्ठों में इस पर विचार करें।

आत्मा की सत्ता और गरिमा

मनुष्य जो अपने आपको "मैं' शब्द से सम्बोधित करता है वह "मैं" क्या है ? क्या यह चलता फिरता शरीर ही सब कुछ है या इसमें "मैं" कुछ और भी है ? हम जब तक "मैं"

"मैं" कहते फिरते हैं तब तक तो हमारा यह शरीर गतिशील व चैतन्य बना रहता है पर जब "मैं" नहीं रहती तब क्या हो जाता है ? जिस शरीर को हम व हमारे स्वजन इतना चाहते हैं, इतना प्यार करते हैं. इतना सँभाल कर रखते हैं और इसे इतनी सुख सुविधा पहुँचाते हैं, वही शरीर "मैं" के अभाव में नितान्त निरर्थक क्यों समझा जाता है ? उसे अग्नि या भूमि के हवाले क्यों कर दिया जाता है ?

तो फिर यह "मैं" क्या है ? यह वह चेतन तत्व है जिसने हमें जिन्दगी दी, गति दी, हरकत दी, चेतना दी और कर्मशील बनने की शक्ति दी। यह चेतन तत्व ही सब कुछ है, शरीर का स्वामी है, अधिष्ठाता है। यही वह आत्मा है जिसके बल बूते पर हम अपने को "मैं" शब्द से सम्बोधित करते हैं।

अतः उपासना—जिसका अर्थ, जैसा कि पहले कह चुके हैं, प्रभु के समीपस्थ होना, निकट आसन जमाना और उसके प्रकाश से प्रकाशित होना है, केवल आत्मा ही कर सकता है, उसका आवास-गृह यह शरीर नहीं कर सकता। प्रभु चेतन स्वरूप है और निराकार है अतः उसके समीपस्थ होने का अधिकार भी केवल चेतन तत्व आत्मा को ही है। पर दुःख इस बात का है कि हममें से अधिकांश अपने आपको अर्थात् अपने आत्म स्वरूप को पहिचान नहीं पाते। आत्मा के अस्तित्व को समझ नहीं पाते। केवल शरीर ही को सब कुछ समझ कर उसी की सेवा शुश्रूषा में लगे रहते हैं। निःसन्देह शरीर जो आत्मा का अनुपम वाहन है—दैवी नौका या दिव्य रथ है, जो उसे प्रभु तक पहुँचने की सफल यात्रा करा सकता है और इसलिए इसे स्वस्थ और सबल बनाये रखना हमारा कर्तव्य है; पर केवल और केवल उसी की सार सँभाल करना और आत्म-तत्व की उपेक्षा करना उचित नहीं।

आत्मा की उपेक्षा

एक सज्जन अपने बड़े ही सुन्दर, सुडौल घोड़े पर सवार होकर अपने मित्र से मिलने उसके गाँव गये। मित्र ने उन्हें देखकर उनकी अगवानी की। उन्हें घोड़े पर से उतारा, घोड़े को बाहर सहन में बाँध उन्हें अन्दर ले गया। बड़े ही आदर सत्कार के साथ उन्हें कमरे में बैठा कर वापिस बाहर आ गया और कमरे का बाहर से कुण्डा बन्द कर दिया। बाहर घोड़े के पास जाकर उसे थपथपाया, उसे दाना पानी दिया, उसकी मालिश की, उसे खुरेरा सहलाया और उसके पाँव दबाता बैठा रहा। वह सज्जन अन्दर बैठे-बैठे खिड़की से यह सब दृश्य देखते रहे और आखिर बोले, "मित्र ! मेरे घोड़े ही की सब दिन सेवा करते रहोगे कि उसके इस मालिक की भी कुछ सुध-बुध लोगे ? मुझे भी थकावट है, भूख-प्यास लगी है, कुछ मुझ भी खाने-पीने को दोगे या नहीं ? मित्र बोला, 'वाह आपको कैसी थकावट ! आप तो घोड़े पर सवार होकर आये हैं, थकावट और भूख-प्यास तो इस बेचारे घोड़े को है जो आपको यहाँ तक लाया है, उसी की सेवा करना उचित है ! आप अन्दर बैठे हैं, बैठे रहिये आराम से।" कैसा विचित्र लगेगा यह आपको ?

ठीक यही हाल हमने हमारे शरीर के स्वामी का किया हुआ है। उसे अन्दर बैठा कर हर समय इस शरीर रूपी घोड़े ही की सेवा करते रहते हैं उसी को नहलाने, धुलाने, सुन्दर बनाने, खिलाने-पिलाने और सारी सुख-सुविधा पहुँचाने में लगे रहते हैं। अन्दर आत्मा भूखा-प्यासा बैठा है उसकी परवाह नहीं करते। शरीर की भी सार-संभाल करना बुरा नहीं, पर आत्मा की अवहेलना करना अच्छा नहीं।

आत्मा का अस्तित्व

आप शायद यह कहेंगे कि यह आत्मा का अच्छा चक्कर

चला दिया। आत्मा है कहाँ ? यदि होता तो शरीर-विज्ञान के बड़े बड़े वैज्ञानिक उसके बारे में पूरी जानकारी अवश्य दे पाते, शरीर में उसके निवास स्थान को अवश्य निर्धारित कर पाते। वैज्ञानिकों और चिकित्सा-शास्त्रियों ने जब शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म भागों का, रगों का, रज्जाओं का, नाड़ियों का, हड्डियों में छोटे-छोटे छिद्रों का और अवयवों के खुर्दबीन दर्शी भागों का विस्तार से वर्णन किया है, उनके आवास व पारस्परिक आन्तरिक सम्बन्धों का वर्णन किया है और उनकी कार्य-प्रणाली पर अत्यन्त ही मार्मिक बोध कराया है तो क्या आत्मा के विषय में उन्हें कोई बोध नहीं हो सका ?

यह ठीक है कि चिकित्सा शास्त्री एवं वैज्ञानिक आत्मा का बोध नहीं करा पाये, आत्मा के अस्तित्व को स्थापित नहीं कर पाये और संभव है कभी कर भी नहीं पायेंगे, क्योंकि आत्मा केवल अणुवत् चेतन तत्व है जिसका कोई आकार नहीं। अनन्तर इसके आत्मा के अध्ययन का चिकित्सा-शास्त्रियों व वज्ञानिकों का क्षेत्र भी नहीं है क्योंकि उन्हें आत्मा की चिकित्सा तो करनी नहीं होती, उन्हें तो चिकित्सा केवल शरीर, मन और मन से उत्पन्न हुए मानसिक विकारों की करनी होती है।

एक चिकित्सक के नाते मैंने जब-जब भी मृत शरीरों का अन्तः परीक्षण किया तब २ एक जिज्ञासु की हैसियत से बड़ी ही बारीकी से हृदय और मस्तष्क का अध्ययन किया कि कहीं आत्मा के निवास स्थान का चिन्ह या प्रमाण मिल सके, पर मुझे यह सब कुछ नहीं मिला। लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं कि आत्मा है ही नहीं ? आत्मा का अस्तित्व व उसकी चेतन शक्ति का आभास हमें दार्शनिक दृष्टि से ही प्राप्त हो सकता है।

आधुनिक वज्ञानिक यह मानते हैं कि हमारा शरीर

भाँति-भाँति की असंख्य कोशिकाओं (Cells) का बना है और प्रत्येक कोशिका (Cell) में उसका अपना स्वयं का जीवन है। सैल्स (Cells) घटती बढ़ती हैं, सांस लेती हैं, भोजन करती हैं, भोजन पचाती हैं, विकृत पदार्थ बाहर फेंकती हैं, और एक से दो, दो से चार, और चार से आठ हिस्सों में विभाजित होकर अपनी वंश-वृद्धि करती हैं-सन्तानोत्पत्ति करती हैं। इनकी जीवन अवधि भी अलग-अलग होती हैं फिर क्या कारण है कि मृत्यु एक पल ही में हो जाती है जबकि सभी सैल्स एक साथ नहीं मरतीं ? क्या कारण है कि एक ही पल में सारी जीवन लीला समाप्त हो जाती है ? वह कौन सा तत्व है जिसके निकल जाने पर शरीर की सारी की सारी सैल्स एक साथ निरर्थक हो जाती हैं।

वह कौन तत्व है जो बच्चे को माता के गर्भ में ही चौथे मास में हरकत दे देता है ? वह कौन तत्व है जो बच्चे के पैदा होते ही उसे रुला देता है और उसमें प्राणों का संचार स्थापित करता है ? वह कौन तत्व है जो बच्चे के पैदा होने के कुछ ही घण्टों में होंठ चलाने व माता के स्तन से चूस-चूस कर दूध पीने को समर्थ करता है, जब कि अभी उसके अन्य कोई भी बाहरी अवयव इतनी कुशलता का कार्य करने में समर्थ नहीं हुए ? बच्चे में अभी मानसिक तत्व विकसित नहीं होने पाया मस्तिष्क और ज्ञान-इन्द्रियों का किञ्चित् भी विकास नहीं हुआ, फिर भी क्या कारण है कि उसकी अन्तः प्रेरणा या अन्तःज्ञान प्रवृत्ति उसे माता की ओर आकृष्ट करती है और माता की गोद में आराम और अभय का ज्ञान कराती है ?

क्या कारण है कि कभी-कभी हम ऐसे विलक्षण बुद्धि के बच्चे देखते हैं, या उनके बारे में सुनते हैं, कि जो वेदों के मन्त्र या गीता के श्लोक धारा प्रवाह बोलते हैं, जब कि अभी

उन्हें वर्णमाला के अक्षरों का किञ्चित् मात्र भी बोध नहीं हुआ। यह सब उस आत्मा ही का प्रताप है जो शिशु में यह शारीरिक गति और क्षमता प्रदान करता है और यह वही आत्मा है जो पिछले जन्म में धुरन्धर विद्वान्—वेद, शास्त्रों का ज्ञाता रहा होगा, जिसने अवधान के बल पर वेद मन्त्रों की दृढ़ स्मृति चित्त पर अंकित की होगी और वही चित्ताङ्कित स्मृति उसे इस छोटी सी अवस्था में भी मन्त्रोच्चारण करने में समर्थ किये हुए है।

इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा है और इस आत्मा ही के कारण हमारा यह जड़ शरीर चेतनावस्था प्राप्त करता है। अतः "मैं" आत्मा के अलावा और कुछ नहीं और यह आत्मा ही परमात्मा की उपासना करता है, वही उपासना का अधिकारी है।

आत्मा का लक्ष्य और साधन

प्रभु ने आत्मा को कर्मफल के अनुसार जब अन्य योनियों के आवागमन से मुक्त कर ईश्वर उपासना द्वारा प्रभु की गोद पाने के लिये अन्तिम यात्रा के उद्देश्य से मनुष्य योनि में प्रविष्ट किया, इसका अधिष्ठाता बनाया, तो उसे कर्म करने के लिये उत्तमोत्तम साधन भी दिये। मनुष्य शरीर को अन्य योनियों के शरीरों की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट बनाया। उसमें सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग विलक्षण विभा और क्षमता युक्त बनाये। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय कोष बनाकर उनमें आश्चर्यजनक अनुभव और अद्भुत सूक्ष्मकाय तत्व दिये जिनसे ज्ञान और कर्म का यथावत् सम्पादन होता रहे। आत्मा को सत्कर्म करने और अपने स्वयं के लिये ही नहीं अन्यों के लिये भी अधिक से अधिक परोपकार की भावना से कर्म करने का अवसर व आदेश दिया। बड़ी ही सुन्दर देवनगरी आत्मा को

साम्राज्य के रूप में दी और उसे इस साम्राज्य का सम्राट् बनाया। वेदों ने इस देव नगरी को अष्टचक्र और नव द्वार वाली 'अयोध्यापुरी' कहा है अर्थात् वह पुरी जिसे कोई जीत नहीं सकता और उसमें एक चमकीले प्रकोष्ठ में जो प्रभु के प्रकाश से प्रकाशमान है, आत्मा को बैठाया जो सुखमय सम्राट् है।

अष्टचक्रा नव द्वारा देवानां पूऽयोध्या ।
तस्यां हिरण्मय कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

—अथर्व १०-२-३१

ऐसी देवनगरी में उस सम्राट् को अपना शासन कार्य सुचारु रूप से चलाने और ईशोपासना द्वारा मानव जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रभु ने जो अद्वितीय साधन दिये, वह हैं:—

१—अन्तः करण :—

- (i) चित्त या चेतस् — संसद
- (ii) बुद्धि या प्रज्ञान — संसद
- (iii) मनः— प्रधान मन्त्री
  - (क) देव मन — सहायक मन्त्री (मंत्री मण्डल)
  - (ख) यक्षमन — सहायक मन्त्री (मंत्री मण्डल)
  - (ग) धृतिमानः— सहायक मन्त्री (मंत्री मण्डल)
    - (i) प्रत्यग्भान मन
    - (ii) विश्वभान मन
    - (iii) वशीकरण मन

२—इन्द्रियाँ:—

- (i) ज्ञान इन्द्रियाँ पाँच — राज्य कर्मचारी
- (ii) कर्म इन्द्रियाँ पाँच — राज्य कर्मचारी

३—संविधान के रूप में चार वेदों का ज्ञानः—

आत्मा द्वारा प्रदत्त अधिकारी की सीमा में यह साधन अपना कार्य करते हैं और आत्मा को शासन की गतिविधियों से अवगत कराते रहते हैं। ये आत्मा को यथोचित परामर्श भी देते रहते हैं। बुद्धि व चित्त के अनन्तर अन्तःकरण में जो आवाज उठती है वह भी अधिकाँश आत्मा की परामर्शदात्री ही होती है। आत्मा यदि सचेत रहकर इन साधनों पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है तो यह साधन मर्यादा में रहकर ठीक-ठीक कार्य करते हैं पर यदि आत्मा उदासीन रहकर इन्हें खुली छूट दे देता है तो सूरदास के शब्दों में "निडर भये घर चेरे" का रूप लेकर ये सेवक स्वामी बनकर आत्मा को नाच नचाते हैं। आत्मा तब इनका अनुगामी हो जाता है, वह कर्त्तव्य-च्युत हो जाता है, अपने मार्ग से भटक जाता है, प्रभु के आदेशों का पालन नहीं कर पाता और ऐसी हालत में वह अपने उपास्य-देव के समीपस्थ होने का सुअवसर हाथ से खो बैठता है। वह उपासना का अधिकारी बन नहीं पाता।

अन्तःकरण आकाश में सर्वत्र व्यापक महत्तत्व का अंश है। इसी में मन, बुद्धि चित्त और अहंकार स्थित हैं। अन्तःकरण में ही प्रभु प्रदत्त प्रेरणायें उठती हैं जो आत्मा को सत्याऽसत्य और धर्माधर्म का मार्ग प्रदर्शित करती हैं। मन, बुद्धि और चित्त मनोमय कोष के अङ्ग हैं और मस्तिष्क में निवास करते हैं। मन सारे शरीर की क्रियाओं का संचालक व नियन्त्रक है। मन के मुख्य तीन भाग हैं:—

(१) देव मन (Sensory nerve centres)
(२) अक्षमन (motor nerve centres)
(३) धृतिमन (Vegetative or Autonomus nerve Centres)

देव मन ज्ञान इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। ज्ञान इन्द्रियों से बाहरी विषयों का जितना भी बोध होता है वह इसके द्वारा ही होता है। देव मन के अलग-अलग विषय ज्ञान इन्द्रियों के अलग-अलग केन्द्र हैं।

यक्षमन कर्म इन्द्रियों का स्वामी है। जो भी कर्म हम करते हैं वह इसी के द्वारा सम्पन्न होते हैं।

धृति मन शरीर की सारी स्वचालित क्रियाओं का मालिक है। आन्तरिक अवयवों की क्रियायें जो स्वतः ही होती रहती है, धृतिमन के नियन्त्रण में ही होती रहती हैं।

ज्ञान इन्द्रियों से बाहरी विषयों का ज्ञान जब देव मन को होता है जैसे रूप, रस, गन्ध शब्द और स्पर्श आदि का तो देव मन इसे तुरन्त ही बुद्धि के अर्पित कर देता है। कभी-कभी देव मन अपने ही स्तर पर यक्ष मन को कुछ छोटे-मोटे कार्य करने के आदेश दे देता है जिससे विषय की और अधिक जानकारी प्राप्त करने में मदद मिले। बुद्धि विषय को जानकारी प्राप्त कर उसका विश्लेषण करती है और यदि अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहती है तो देव मन और यक्ष मन को ऐसा करने का आदेश देती है। पूरा जानकारी प्राप्त कर बुद्धि इस विषय के ज्ञान का आभास आत्मा को कराती है और साथ ही साथ चित को भी, जिससे चित्त इसे संस्कार के रूप में अपने अन्दर सञ्चित कर लेता है और आत्मा को समय-समय पर स्मृति रूप में विषय का बोध कराता रहता है। चित्त में इस प्रकार संस्कारों का चित्रण 'अवधान' के आधार पर अल्पकालीन या चिरकालिक होता है। संस्कार सदा आत्मा के साथ रहते हैं, जिससे उसका सुख-दुःख का अनुभव होता है या उसमें रागद्वेष आदि का प्रादुर्भाव होता है।

देव मन और यक्ष मन की कार्य विधिः—

इस सब कार्य विधि को समझने के लिए हम एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। मानो आपको किसी ने पीछे से आवाज दी। कानों ने आवाज को देवमन तक पहुँचाया। देवमन ने अपने ही स्तर पर यक्ष मन को आदेश दिया कि गरदन पीछे घुमाओ और आँखों से कहो कि देखे कौन आवाज दे रहा है? यक्षमन के आदेश पर गरदन तुरन्त पीछे मुड़ती है और आँखें उस व्यक्ति को देखती हैं। आँखें उस व्यक्ति की शक्ल सूरत का चित्रण कर देव मन को बोध कराती हैं कि आवाज देने वाला व्यक्ति ऐसे आकार-प्रकार का है और इस प्रकार से कपड़े आदि पहने हुए है। देव मन यह बोध बुद्धि को कराता है। बुद्धि अपने ही स्तर पर यक्ष मन को फिर आदेश देती है कि इस व्यक्ति का नाम पूछो और आवाज देने का कारण पूछो। यक्षमन वाणी को आदेश देता है। नाम और काम पूछा जाता है। यह सूचना देव मन के द्वारा फिर बुद्धि को मिलती है। बुद्धि अब यह सूचना आत्मा को देती है और चित्त को भी। आत्मा को व्यक्ति का बोध होता है और चित्त पर उस व्यक्ति की शक्ल सूरत व नाम, काम, आदि का संस्कार अंकित होता है। आत्मा बुद्धि द्वारा उस व्यक्ति से आगे वार्तालाप करता है और इस वार्ता का संस्कार भी चित्त पर पड़ता जाता है। मगर कर्त्ता अच्छी है तो अच्छा और बुरी है तो आत्मा पर बुरा संस्कार पड़ता है। कुछ दिनों महीनों या वर्षों बाद यदि फिर उसी व्यक्ति को देखा जाता है तो आत्मा उसी प्रकार देव मन, यक्ष मन, बुद्धि और चित्त की सहायता से इसे पहिचान लेता है।

यदि पहले की वार्ता अच्छी थी और इस बार भी यह व्यक्ति कोई अच्छी बात कहता है या अच्छा कार्य करने को

कहता है तो आत्मा बुद्धि द्वारा उसकी परख कर तुरन्त करने को राजी हो जाता है; पर यदि काम बुरा है और आत्मा सत्व गुणी व सचेत है तो वह उसे करने को मना कर देगा। लेकिन यदि आत्मा तमोगुणी और उदासीन है, तो वह कुछ सोच विचार में पड़ जायेगा। उसमें व्यर्थ के विकल्प उठने लगेंगे। उस समय अन्तःकरण में एक आवाज उठेगी कि काम बुरा है, मत कर। पर आत्मा तमोगुणी होने के कारण उसे सुनी अन-सुनी कर देता है। बुद्धि और मन भी देखते हैं कि मालिक असमंजस में है, उदासीन है, तो मन जो अति ही चंचल है और प्रधान मंत्री भी; बुद्धि को प्रेरित करता है कि यह काम कर लेना चाहिये। बुद्धि भी जब देखती है कि मालिक का कोई विशेष विरोध नहीं है तो मन की लगाम को ढीली छोड़ देती है और मन इन्द्रियों के घोड़ों को हवा में उड़ाने लगता है। इन्द्रियों को पूरी छट दे देता है कि कर डालो यह काम। फिर क्या है! वह काम हो जाता है चाहे बेईमानी का हो, अनाचार अत्याचार का हो, रिश्वत लेने का हो या किसी भी प्रकार मे चरित्र को गिराने का हो। प्रत्येक कार्य का संस्कार चित्त पर पड़ता ही है, और ऐसे-ऐसे संस्कार पड़ते रहें तो आत्मा को इन संस्कारों का दुःखद भोग भोगना ही पड़ता है। लेकिन यदि आत्मा सजग है सचेत है सत्व गुणी है तो वह मन और बुद्धि को कभी ऐसे बुरे काम करने की छूट नहीं देगा।

इस उदाहरण में देव मन और यक्ष मन के केवल आंशिक कार्य कलापों का विवरण ही मिलता है जबकि वह दोनों बड़े से बड़े पेंचीदा कार्य करते रहते हैं और जितने भी ऐच्छिक कार्य हम करते हैं वह इनके द्वारा सम्पादित होते हैं। देव मन विषयों का ज्ञान कराता है और यक्ष मन बुद्धि द्वारा

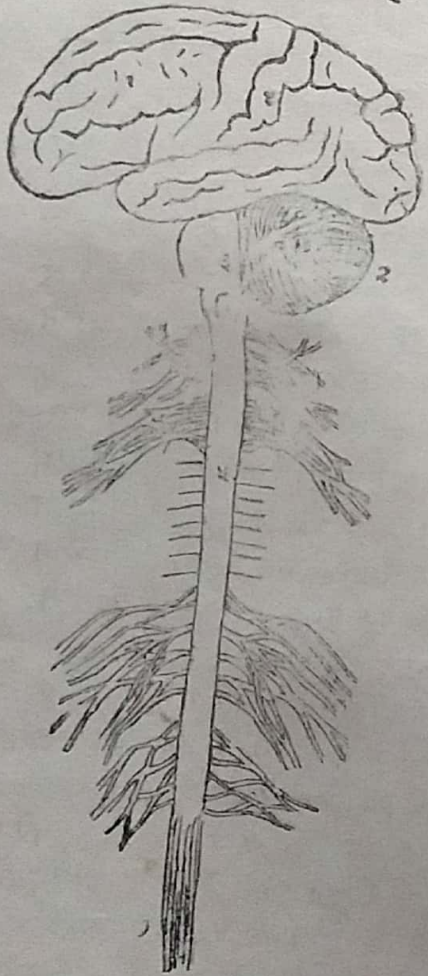
प्राप्त आत्मा के आदेशों पर कर्म इन्द्रियों—हाथ, पाँव, वाणी, उपस्थ व पायु से कर्म कराता है।

धृतिमन का कार्य और स्वरूप

इनके अतिरिक्त धृतिमन अपना अलग ही स्वरूप लिये हुए है। वह हमारी सारी आन्तरिक क्रियाओं का संचालन करता है चाहे हम जाग्रत अवस्था में हों या सुषुप्ति में। हृदय की धड़कन, रक्त संचार, श्वास-प्रश्वास का प्रचलन भोजन-पाचन और सभी आन्तरिक अवयवों का कार्य सम्पादन इसी के नियन्त्रण में होता रहता है। यह आत्मा का बड़ा ही विश्वासपात्र और आज्ञाकारी सेवक है, अतः आत्मा को उस पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता नहीं होती और बार-बार आदेश देने की भी आवश्यकता नहीं होती। एक बार दिये गये आदेश उसे सदा कर्मशील बनाये रखने के लिये पर्याप्त हैं। देव मन, बुद्धि, चित्त, आदि के शान्त रहने पर भी धृतिमन तो अपना कार्य करता ही रहता है। आत्मा इस पर इतना विश्वास करता है कि सोते समय यदि धारणा के साथ उसे यह आदेश देकर सोवें कि प्रातः चार बजे उठा देना, तो वह चार बजे अवश्य उठा देता है।

धृतिमन अनेकानेक पेचीदगियां सुलझाने में भी बुद्धि का सहायक है। बहुधा हम यह अनुभव करते हैं कि दिन भर की सिरपच्ची के बाद भी जब हम किसी समस्या का हल नहीं निकाल पाते और परेशान होकर सो जाते हैं तो प्रातः उठते ही उस समस्या का हल स्वतः ही हमें सूझ जाता है। यह धृतिमन का ही चमत्कार है कि उससे उस समस्या का हल करने में बुद्धि की सहायता की। आत्मविज्ञान की दृष्टि से तो धृतिमन का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है, पर चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार यह केवल मनोमय कोष का स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाला तत्व ही माना गया है ... Sympathetic and para-Sy-

mpathetic Nervous System) प्रत्यग्भान, विश्वभान, एवं वशीकरण मन की चर्चा हम आगे चलकर करेंगे ।



१. बड़ा मस्तिष्क Cerebrum)
२. छोटा मस्तिष्क (Cerebellum)
३. पोन्स (Pons)
४. सुषुम्ना शीर्ष (Medulla Oblongata)
५. सुषुम्ना Spinal Cord)

सुषुम्ना से निकलने वाले मुख्य-मुख्य कर्म-तन्तु भी (Motor Nerves) के झुण्ड (Plexus) चित्र में दिखाये गये हैं ।

[चित्र नं० २ }

मन, बुद्धि और चित्त विवेचन

पाठक शायद यह भी जानना चाहेंगे कि मन, बुद्धि व चित्त का हमारे शरीर में नियत निवास कहाँ है और यह ज्ञान व कर्म इन्द्रियों में कैसे काम लेते हैं ? साथ ही साथ पाठक यह

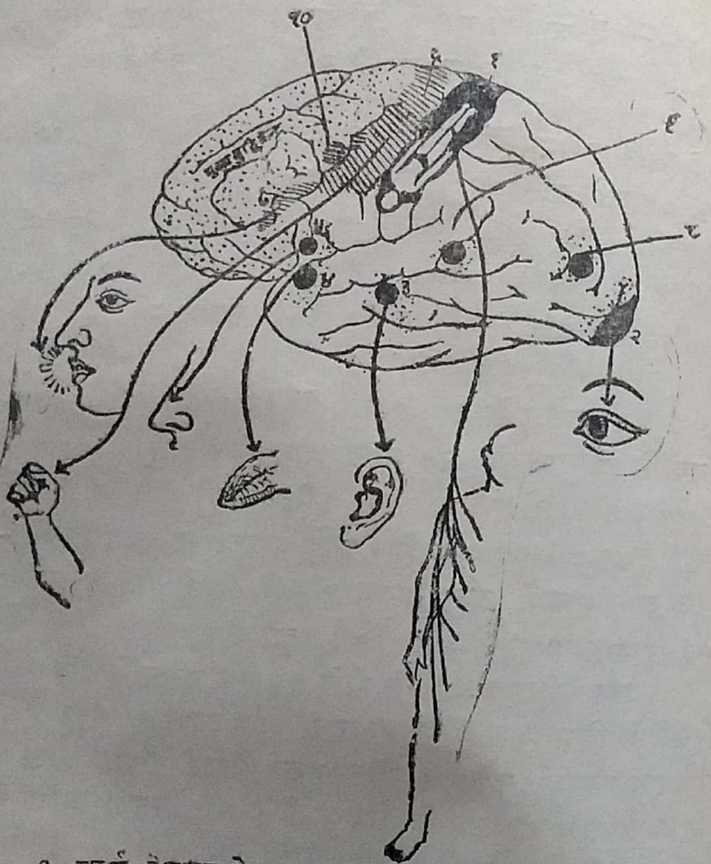
भी विशेष रूप से जानना चाहेंगे कि आत्मा का निवास स्थान कौनसा है ? अतः इस विषय पर भी संक्षिप्त विवेचन कर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा ।

हमारे मनोमय कोष में मुख्यतया बड़ा मस्तिष्क (Cerebrum), छोटा मस्तिष्क (Cerebellum) पोन्स (Pons) सुषुम्नाशीर्ष (Medulla oblongata) व सुषुम्ना (Spinal cord) हैं जो खोपड़ी (Skull) व रीढ़ की हड्डी (Spine or Vertibral column) में स्थित है। (चित्र संख्या २)

इनके अतिरिक्त मनोमय कोष में असंख्य रज्जातन्तु (Nerves) हैं जो शरीर के प्रत्येक भाग में बिखरे हुए हैं । ज्ञान-इन्द्रियों से मस्तिष्क में जाने वाले ज्ञान-रज्जातन्तु (Sensory nerves) और मस्तिष्क से कर्म इन्द्रियों को जाने वाले कर्म तन्तु (Motor Nerves) हैं । इनके अलावा धृतिमन से सम्बन्धित ज्ञान व कर्म तन्तु अलग ही हैं जिन्हें (Symathetic and Parasympathetic nerves) कहते हैं ।

बड़ा मस्तिष्क आगे से पीछे तक एक दरार से दांये बांये हिस्सों में विभाजित है पर अन्दर से मध्य भाग में जड़ा हुआ है। इस प्रकार इसमें दो और मुख्य दरारें हैं एक चोटी के स्थान से नीचे कनपटी की ओर आती है और दूसरी आँख के समतल भाग से कनपटी की ओर जामो है । चोटी से कनपटी की ओर आने वाली दरार के पीछे की ओर स्पर्श देवमन है, अर्थात् देवमन का वह केन्द्र जो सारे शरीर से स्पर्श ज्ञान का बोध कराता है । दरार के आगे की ओर यक्षमन है। मस्तिष्क के दांये हिस्से शरीर के बांये भाग को और बांये हिस्से दांये भाग को नियन्त्रित करते हैं ।

स्पर्श देवमन में केवल त्वचा या माँस पेशियों से प्राप्त होने वाले विषयों की सूचनायें ही पहुँचती हैं, जैसे छूने या दबाये



१. स्पर्श, देवमन केन्द्र — २. दृष्टि, देवमन केन्द्र
३. श्रोत्र, देवमन केन्द्र
४. रसना देवमन केन्द्र]
५. घ्राण देवमन केन्द्र] भीतरी ओर
६ यक्षमन — ७. वाणी यक्षमन
८. लिखावट पहिचानने और पढ़ने का केन्द्र
९. बोले शब्दों का बोध कराने और शब्द विश्लेषण कराने वाला केन्द्र। १०. लिखावट का केन्द्र। [चित्र सं० ३]

जाति का आभास, ठण्डा व गरम, पीड़ा, चुभन, वस्तु का आकार, भार, कोमलता, कठोरता, चिकनाई या खुर्दरापना आदि। दृष्टि का देवमन मस्तिष्क के पीछे के भाग में है और शब्द या श्रोत्र देवमन कनपटी वाले भाग में जैसा कि चित्र नं० ३ में दिखाया गया है। घ्राण और रसना का देवमन मस्तिष्क के सामने के भाग में भीतरी ओर है।

इन्हीं देवमन केन्द्रों के पास इनकी अपनी-अपनी बुद्धि और चित के केन्द्र स्थित हैं, पर असली बुद्धि का विस्तृत केन्द्र मस्तिष्क के अगले भाग में स्थित है, जैसा कि चित्र नं० ३ में दिखाया गया है।

यक्ष मन, जैसा कि पहले लिख चुके हैं, मस्तिक में चोटी से कनपटी की ओर आने वाली दरार के सामने स्थित है और वाणी का यक्षमन भी उसी के नीचे की ओर स्थित है। वाणी का यक्षमन केवल एक भाग में ही होता है अर्थात् दाँये हाथ के व्यक्ति में बांये भाग में और बांये हाथ के व्यक्ति में दाँये भाग में, जब कि अन्य सभी देव व यक्षमन के केन्द्र दोनों भाग में यथावत् स्थित होते हैं। यक्षमन देवमन के सभी अलग-अलग केन्द्रों से सम्पर्क स्थापित किये हुए हैं।

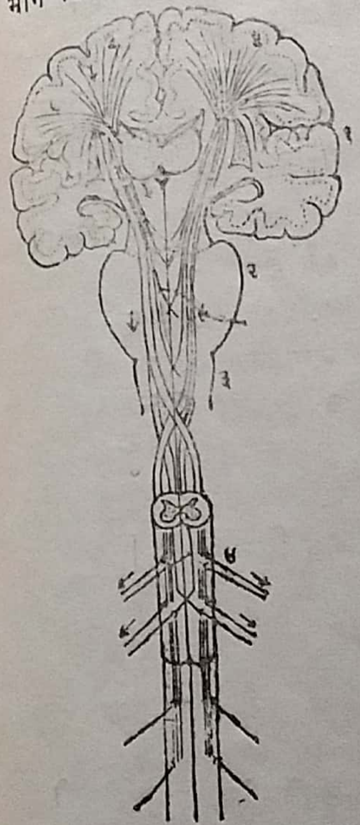
बड़े मस्तिष्क के अन्दर की ओर मध्य भाग में छोटे छोटे बहुत से ऐसे केन्द्र भी है जिन्हें बेजल गेन्गलिया (Basal ganglia) कहते हैं और जा देवमन व यक्षमन के पूर्ण विकसित होने के पूर्व ही कुछ ऐसी क्रियाओं पर आंशिक नियन्त्रण रखते हैं जैसे शिशुओं में पाचन-क्रिया, निद्रा, मातृ-ममता, भावुकता हँसना, रोना, स्पर्श बोध और शारीरिक उष्णता का नियन्त्रण आदि। बड़ी उम्र में यह केन्द्र केवल परिमित क्षेत्र में ही देव और यक्षमन के नियन्त्रण में कार्य करते हैं जैसे भावुकता, ममता, उष्णता नियन्त्रण आदि।

स्पर्श देवमन और यक्षमन में शरीर के विभिन्न भागों के केन्द्र इस प्रकार से नियोजित हैं जैसे मनुष्य को उल्टा लटका रक्खा हो। पाँव के अँगूठे व अंगुलियों के केन्द्र सबसे ऊहर और फिर पग-तलियां टखने, पिंडलियाँ, घुटने, जाँघें, कमर व उदर वक्षस्थल, कन्धे, हाथ, हथेलियाँ, अँगुलियाँ, गरदन, मुँह और सिर। (चित्र नं० ३)

लघु मस्तिष्क बड़े मस्तिष्क के नीचे और पीछे की ओर खोपड़ी में स्थित है। यह शरीर को मांसपेशियों में समन्वय बनाये रखता है और शरीर की गति-विधियों को नियन्त्रण में रखता है, जिससे हम चलते फिरते, उठते-बैठते और दौड़ते-भागते समय अपना सामान्य सन्तुलन (Balance) बनाये रखते हैं, गिरते पड़ते नहीं। आँख बन्द करके यदि हम फैलाये हुए हाथों को एक-दूसरे के निकट लाते हुए अपनी तरजनी अँगुलियों को एक दूसरी से मिलाना चाहें तो मिला पाते हैं, या फैलाये हुए हाथों को नाक की ओर लाकर उस पर तरजनी उँगली रखना चाहें तो रख सकते हैं। यह सब मांसपेशियों के आपसी समन्वय से हो पाता है जिसका नियन्त्रण यह लघु मस्तिष्क करता है। इसके क्षतिग्रस्त या रोगग्रस्त होने पर यह क्रियायें हो नहीं पातीं।

सुषुम्नाशीर्ष लघु मस्तिष्क के सामने व नीचे की ओर स्थित है। यह लगभग उन सब क्रियाओं को नियन्त्रित करने का केन्द्र है जिसका सम्बन्ध धनिमन से है, जैसे—श्वास का चलना, हृदय की धड़कन, रक्त-सचार पाचन-क्रिया और अन्य आन्तरिक अवयवों का कार्य सम्पादन। इसलिए हम धृतिमन का निवास इस सुषुम्नाशीर्ष में नियत कर सकते हैं। स्पर्श ज्ञान-तन्तु देवमन की ओर जाते हुए और कर्म-तन्तु यक्षमन से निकल कर कर्म-इन्द्रियों विशेषकर हाथ-पांव की ओर आते

हुए इस सुषुम्नाशीर्ष में होकर निकलते हैं। यहाँ यह तन्तु अधिकाँश दाँये से बाँये और बाँयें से दाँयें हो जाते हैं जिससे मस्तिष्क का दाँया-बाँया भाग क्रमानुसार शरीर के बाँये-दाँये भाग का शासन व नियन्त्रण करता है।



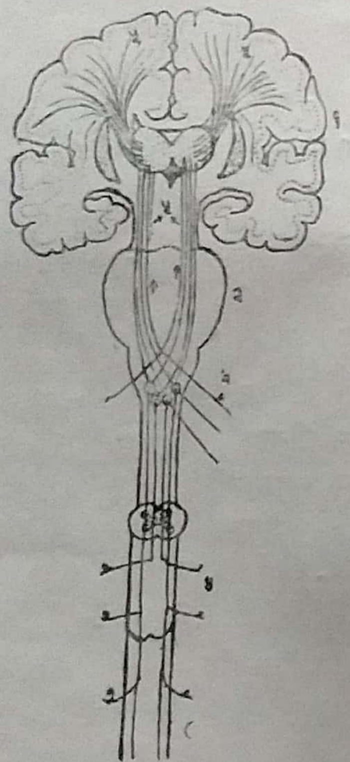
मस्तिष्क, पोन्स, सुषुम्ना-शीर्ष, सुषुम्ना आदि का ऊपर से नीचे की ओर कटा भाग जिसमें स्पर्श ज्ञान तन्तु स्पर्श देवमन की ओर जाते हुए दिखाये गये हैं।

१. बड़ा मस्तिष्क
२. पोन्स
३. सुषुम्नाशीर्ष
४. सुषुम्ना
५. स्पर्श देवमन

[चित्र सं० ४]

सुषुम्ना शीर्ष के नीचे और उससे जुड़ी हुई सुषुम्ना-खोपड़ी के नीचे के छिद्र से होकर रीढ़ की हड्डी में प्रवेश करती है और वहाँ स्थित होती है। इसमें शरीर के सभी भागों से स्पर्श ज्ञान तन्तु प्राथमिकता से आते हैं और फिर ऊपर सुषुम्नाशीर्ष, लघु मस्तिष्क और मध्य मस्तिष्क के केन्द्रों में

होते हुए स्पर्श देवमन में अपने-अपने नियत स्थानों पर जाते हैं और यक्षमन से निकलने वाले कर्म तन्तु इसमें आकर फिर हाथ, पांव, उपस्थ, पायु आदि कर्म इन्द्रियों में जाते हैं। सुषुम्ना में



मस्तिष्क, पोन्स, सुषुम्ना-शीर्ष, सुषुम्ना आदि का ऊपर से नीचे की ओर कटा भाग जिसमें कर्मतन्तु यक्षमन से निकल कर कर्म इन्द्रियों की ओर जाते हुए दिखाये गये हैं।

१. बड़ा मस्तिष्क
२. पोन्स
३. सुषुम्ना शीर्ष
४. सुषुम्ना
५. यक्षमन

[चित्र सं० ५]

भी छोटे-छोटे ऐसे केन्द्र हैं जो छोटी-छोटी क्रियायें अपने ही स्तर पर करा देते हैं, यक्षमन या देवमन तक जाने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे हम पढ़ रहे हैं और हमारा सारा ध्यान पढ़ाई में लगा हुआ है, उस समय यदि कोई मक्खी हमारे हाथ या मुँह पर बैठती है तो हमारा हाथ स्वयं ही उसे उड़ा देता है। पढ़ाई में केन्द्रित हमारा ध्यान विचलित नहीं हो पाता।

हमारा देवमन इस समय हमारी पढ़ाई की ओर केन्द्रित है
अतः ऐसे छोटे से काम के लिए उसे परेशान नहीं किया जाता।
सुषुम्ना स्वयं यह कार्य कर देती है। दूसरा उदाहरण हमारे
साईकिल चलाने का है। हम किसी भी ध्यान-मग्न अवस्था में
साईकिल चलाते ही जाते हैं जब कि हमारा देवमन किसी और
ही विषय में लगा रहता है।

स्पर्श ज्ञान तन्तु शरीर के सभी भागों से सुषुम्ना में
होकर जहाँ स्पर्श देवमन में जाते हैं वहाँ अन्य ज्ञान-इन्द्रियों के
ज्ञान-तन्तु अपने-अपने नियत पन्थों से होकर अपने-अपने देवमन
के केन्द्रों में जाते हैं। इन सभी केन्द्रों का सम्पर्क यक्षमन से
बना रहता है ताकि इन इन्द्रियों में क्रिया-संचालन का कार्य
भी सुभीते से होता रहे।

शरीर रचना में मनोमय कोष का बड़ा ही महत्वपूर्ण
स्थान है और इसका बड़ा ही विस्तृत विवरण भी है। पर हम
उसके विस्तार में न जाकर पाठकों को केवल उपर्युक्त संक्षिप्त
बोध ही करा रहे हैं जिससे मन, बुद्धि और चित्त का थोड़ा-सा
विवरण प्राप्त हो सके और उनके निवास-स्थान का ज्ञान भी।

आत्मा का निवास-स्थान

आत्मा के निवास स्थान का चिकित्सा वैज्ञानिकों व
आयुर्वेद शास्त्रियों ने कोई उल्लेख नहीं किया है। अतः उसके
निवास स्थान पर किसी प्रकार का मत प्रकट करना हमारे
लिये भी कठिन ही है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि
जब मन बुद्धि, और चित्त मनोमय कोष में स्थित है तो आत्मा
का निवास भी वहीं-ब्रह्मरन्ध्र में होना चाहिये, ताकि वह इनसे
सीधा सम्पर्क रख सके। वैसे तो आत्मा केवल अणुवत् चेतन
तत्व है [illegible]का कोई निश्चित निवास स्थान केन्द्रित किया

भी नहीं जा सकता, फिर भी वेदों और उपनिषदों ने आत्मा का निवास हृदय में बताया है, जो हम सब को मान्य होना ही चाहिये। पर यह हृदय कौनसा है ? क्या यह वही हृदय है जो हमारे सीने में स्थित है और सारे शरीर में रक्त-संचार करता है ? शायद नहीं ! उपनिषद व वेदों का हृदय तो कोई और ही है। पर अनेक योगसिद्ध विद्वान और आध्यात्मिक विज्ञानवेत्ता इसी हृदय को आत्मा का निवास स्थान मानते हैं। यदि यही हृदय आत्मा का निवास स्थान है तो आजकल हृदय विशेषज्ञ जब हृदय परिवर्तन (Heart Transplant) कर देते हैं तब आत्मा का क्या होता है ? क्या आत्मा भी परिवर्त्तित हो जाता है ? मृत व्यक्ति का हृदय जीवित व्यक्ति में लगाया जाता है और जीवित व्यक्ति का हृदय निकाल दिया जाता है। मृत व्यक्ति के हृदय में तो आत्मा रहती नहीं और जीवित व्यक्ति के हृदय में यदि आत्मा रहती है तो वह भी निकल जाना चाहिये पर ऐसा होता नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि वेदों और उपनिषदों का हृदय दूसरा ही है। वह कौनसा है ?

यदा सर्वेप्रमुच्यन्ते का मा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यन्न ब्रह्म समश्नुते ॥

—बृह . १ । ५ । ३।

जब हृदय में आश्रित सब कामनायें छूट जाती हैं, तब मनुष्य अमर हो जाता है और ब्रह्मानन्द का उपभोग करने लगता है। यह सत्य है कि जीवन मुक्त ही मुक्ति प्राप्त करता है।

चूंकि कामनाओं का स्थान मन है और मन मस्तिष्क में स्थित है अतः यहाँ हृदय शब्द मन व मस्तिष्क का ही द्योतक है।

यदा सर्वेप्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम ॥

—कठो० ६-१५

जब हृदय की सब गांठें खुल जातो हैं तब मनुष्य अमर हो जाता है। यहां भी हृदय से मन का ही बोध होता है क्योंकि गांठ मन ही की होती हैं।

मुण्डकोपनिषद् में "भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः" के कथन में भी हृदय की ग्रन्थियाँ खुलने और सब संशयों का छेदन होने से तात्पर्य मन के हृदय से ही है।

"अथर्ववेद में भी अष्टचक्रा नव द्वारा" इस मंत्र में आत्मा को हिरण्मय कोष में स्थित बताया है।

यह हिरण्मय कोष विज्ञानमय कोष ही है जो मनोमय कोष का अंग है और जो मस्तिष्क में ही माना गया है।

तैत्तिरीयोपनिषद के निम्न उद्धरण से इसका और भी अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है :

"स य ऐषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्तयं मनो मयः।
अमृतोहिरण्यमयः अन्तरेण तालुके। य एव स्तन इवावलम्बते।
सेन्द्रयांनिः। यन्त्रासौ केशान्तो। विवर्तते व्यपोह्य शीषकपाले।

यह जो हृदय के अन्दर आकाश है उसी के अन्दर मनोमय विज्ञान स्वरूप आत्मा निवास करता है, वह अमृत है और प्रकाश स्वरूप है। मुख का वह भाग जिसे तालु कहते हैं उसके बीच में जो स्तन के समान मांस लटकता है वही उस ऐश्वर्य सम्पन्न हृदय के निर्माण में आधार स्तम्भ है। यह हृदय वहाँ ही है जहाँ सिर के कपाल के कुछ स्थान को छोड़ कर चूड़ाकर्म संस्कार किया जाता है अर्थात् चोटी का स्थान है और यही स्थान ब्रह्मरन्ध्र है।

स्पष्ट है कि आत्मा का निवास स्थान मस्तिष्क—ब्रह्मरन्ध्र में ही होना चाहिये।

उपासना के लिए आत्मा की पवित्रता:—

आत्मिक पवित्रता के लिये मन का शिवसंकल्पीकरण!

यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि धृतिमन आत्मा का बड़ा ही विश्वासपात्र और आज्ञाकारी सेवक है। धृतिमन में जब आत्मा का सत्वगुण प्रधान हो जाता है, सत्वगुणी आत्मा जब अपनी विभूतियाँ इसमें प्रकट करता है, आत्मा का "अहम्" या अहंकार जब इसमें प्रकाशित हो जाता है तब यह धृतिमन प्रत्यग्भान अर्थात्-प्रत्येक-आत्मा के भान का मन कहलाने लगता है।

जब प्रत्यग्भान मन में ईश्वरीय विभूतियाँ प्रकट होती हैं तो यह विश्वभान मन कहलाने लगता है। विश्वभान मन केवल अपने लिये ही कुछ नहीं सोचता वरन् समस्त प्राणियों के हित और उत्थान की बातें सोचने लगता है, और तभी अन्य प्राणियों या व्यक्ति उसे अपना शुभचिन्तक समझ उसका अनुकरण व अनुसरण करने लगते हैं और उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। उस स्थिति में यह मन वशीकरण मन' कहलाने लगता है। यह व्याख्या पूज्पाद स्वामी आत्मानन्द जी ने अपनी मनोविज्ञान नामक पुस्तक में की है, पर हमारा मत है कि केवल धृतिमन ही नहीं बल्कि देव और यक्षमन भी इन विभूतियों को पाकर प्रत्यग्भान व विश्वभान मन बन जाते हैं।

यजुर्वेद में भी मन की इन विभिन्न शाखाओं का वर्णन मिलता है। यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय के प्रथम ६ मन्त्रों में देव-मन, यक्षमन, धृतिमन, बुद्धि और चित्त को शिव संङ्कल्प युक्त बनाने के लिये प्रभु से प्रार्थना करने का विधान है और इसी प्रकार प्रत्यग्भान, विश्वभान व वशीकरण मन के लिये भी। प्रकट है कि मानसिक पवित्रता से ही आत्मा प्रभु की उपासना का अधिकारी बनता है।

४

उपासना कैसे ?

मैं विज्ञान का एक विनम्र विद्यार्थी हूँ। मेरे वैज्ञानिक अध्ययन, परीक्षण और अन्वेषण ने ही मुझे उस महान् की सत्ता के आगे नत मस्तक होने को प्रेरित किया है। मेरी इसी वैज्ञानिक दृष्टि ने ही मुझे अनुभव कराया है कि मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है—ईश्वर और केवल उस एक ईश्वर की ही उपासना अथवा उसका सान्निध्य प्राप्त करना। मैं इस रहस्य को भी जान सका हूँ कि उस प्रियतम के दर्शन करने का अधिकारी केवल मनुष्य का आत्मा है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आदि सभी आत्मा को अपने चरम लक्ष्य—प्रभु दर्शन की प्राप्ति में सहायक तत्व हैं। इतना कुछ जानने के बाद एक प्रश्न आ खड़ा होता है कि मैं इन साधनों का उपयोग किस प्रकार करूँ जिससे उस दिव्य देव से दर्शन पा सकूँ अर्थात् 'उपासना' कैसे हो? क्या तैयारी करनी है उपासना के लिये, और क्या विधि है, उपासना की?

उपासना की तैयारी

मनुष्य जब सत्याचरण, सत्याहार सत्य व्यवहार, सत्य विचार और सत्य आधार को अपना कर सत्कर्म करता है सबको स्वात्मवत् समझने लगता है, स्वस्थ शरीर में मन को शुद्ध पवित्र और प्रत्यग्भान बनाता है, और अपनी उपलब्धियों का यथाशक्ति दान करते हुए प्राणिमात्र के हितार्थ नित्य कर्म—अग्निहोत्र आदि से संसार का उपकार करने पर कटिबद्ध होता है, तब वह उपासना का यथार्थ अधिकारी बनता है। पर उसे यह अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद भी कुछ और तैयारी करनी होती है।

एक विद्यार्थी अपना अध्ययन पूरा कर लेने पर बी० ए०, एम० ए०, या शास्त्री आदि परीक्षायें पास कर लेने पर नौकरी या अन्य व्यवसाय का अधिकारी बनता है और नौकरी के लिए जब साक्षात्कार के लिए बड़े अफसर या जन सेवा आयोग के सम्मुख उपस्थित होता है तब स्वभावत: उसे पूरी तैयारी करनी पड़ती है। विषय का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिये 'स्वाध्याय' करता है, स्वाध्याय के लिये एकाग्र चित्त हो परिश्रम करता है—'तप' करता है, स्वाध्याय से जो बोध प्राप्त होता है उसे अच्छी तरह हृदयाङ्कित करता है अर्थात 'ध्यान' और 'धारण' से विषय को समावेशित करता है और इस बोध को सही-सही प्रकट करने का अभ्यास करता है—सत्य ही कहने का अभ्यासी बनता है, मन ही मन ईश्वर से सहाय की प्रार्थना करता रहता है, और जिस दिन साक्षात्कार के लिए जाना होता है, उस दिन प्रात: जल्दी उठकर स्नानादि से निवृत्त हो स्वच्छ वस्त्र धारण करता है, अङ्ग-प्रत्यङ्ग की देखभाल करता है, बड़े नाखून काटता है, बालों को ठीक से जमाता है, तेल, क्रीम आदि लगाकर सँभालता है, मुँह से बदबू न आये इसलिए

दाँतुनादि करने के बाद भी इलायची, सौंफ, दालचीनी का टुकड़ा या लौंग मुँह में दबाता है अर्थात् 'शौच' नियम का यथाविधि पालन करता है और साक्षात्कार के स्थान पर समय से पहले उपस्थित होता है। वहाँ उपस्थित अन्य अनजाने प्रतिस्पर्धी साथियों से स्वभावत: शिष्टाचार का व्यवहार करता है और मृदु भाषण करता, क्योंकि उस समय उसके चित्त की वृत्तियाँ स्वत: ही सद्व्यवहार की ओर झुकी रहती हैं। जब तक साक्षात्कार का बुलावा नहीं आता तब तक 'सन्तोष' से स्वागत कक्ष में बैठा रहता है। बुलावा आने पर अनायास ही आंख, नाक, मुँह आदि रूमाल से साफ करता है, कोट के बटन खुले हों तो बन्द करता है, बांहें खींचकर नीचा करता है, बाल बिखर गये हों तो फिर से सँभालता है, कपड़ों पर धूल पड़ गई हो तो उसे झाड़ता है, जूतों पर रज जमी हो तो पाँव पटक कर हटाता है और फिर साक्षात्कार के लिये नियत कक्ष में प्रवेश करता है।

एक अफसर या साक्षात्कार बोर्ड के सम्मुख जाने के लिये इस विद्यार्थी को यदि इतनी तैयारी करनी पड़ती है तो प्रभु के दर्शनार्थ उसके समीपस्थ होने के लिये उपासना के अधिकारी और अभ्यर्थी को कितनी तैयारी करनी होगी, इसका शायद गहराई से हम मनन कर ही नहीं पाते।

इन्द्रियों की सबलता और पवित्रता

जिस प्रकार उस विद्यार्थी ने अपने अंग-प्रत्यंगों को सम्भाला उसी प्रकार उपासना के अभ्यर्थी को भी सर्व प्रथम अपने अंग-प्रत्यंगों को उससे भी अधिक सम्भालना होता है; अपने शरीर को स्वच्छ और इन्द्रियों को पवित्र करना होता है, इन्द्रिय-निग्रह करना होता है, यम-नियमों का पालन करना

होता है और अपने आपको नियन्त्रित और ध्यानावस्थित करने के लिये अष्टाङ्ग योग का पालन करना होता है।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उपासना विषय पर योग के इन साधनों का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। इससे पहले कि हम इन साधनों पर विचार करें हमें इन्द्रिय-निग्रह पर कुछ विचार कर लेना श्रेयस्कर होगा।

हमारी पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ—नासिका, श्रोत्र, चक्षु, जिह्वा रसना और त्वक् है और पाँच ही कर्म इन्द्रियाँ हैं जो कि वाणी, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु हैं। इन इन्द्रियों को हमें पवित्र, सुशिक्षित और नियन्त्रित करना है और इन्हें नियन्त्रित करने के लिये मन को भी वश करना है अर्थात् उसे प्रत्यग्भान बनाना है।

सन्ध्या में 'इन्द्रिय स्पर्श' मार्जन और प्राणायाम मन्त्रों का विनियोग उपासना की इसी तैयारी के उद्देश्य से है। एक २ इन्द्रिय के स्पर्श द्वारा उसे स्वस्थ और सबल बनाने की कामना है, क्योंकि "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" । निर्बल जन आत्म-दर्शन और परमात्म दर्शन नहीं कर सकता । पर ध्यान रहे इन्द्रियों की सबलता ही नहीं, उनकी पवित्रता भी आवश्यक है। 'ॐ पुनातु शिरसि' आदि मन्त्रों द्वारा एक-एक इन्द्रिय को मांजने, उसे पवित्र करने का संकल्प धारण किया जाता है।

ज्ञान-इन्द्रियों को प्रशिक्षित और नियन्त्रित करने के लिए हमें इन्हें इतना अभ्यस्त करना है कि वह बाहरी विषयों का यथार्थ ज्ञान देवमन को कराये पर उनमें आसक्त न हो। देवमन और बुद्धि उस ज्ञान को यथार्थ रूप में आत्मा के अर्पण करे और साथ ही साथ चित्त पर उनका सही चित्रण करे। इन्द्रियां उस ज्ञान को इस बारीकी से परखें कि एक बार में ही पूरा ज्ञान प्राप्त हो सके और वह क्षीण न होने पावे।

विषयों का ज्ञान ठीक हो, उनमें आसक्ति न हो तब हम सत्कर्म कर पाते हैं और सत्कर्म से उपासना की समुचित तैयारी कर पाते हैं। सत्कर्म का चित्त पर जब स्थायी अंकन होता है तब अच्छे संस्कार बनते हैं। और संस्कार अच्छे हों इसके लिये ज्ञान इन्द्रियों और देवमन को इतना अभ्यस्त करना होता है कि वह विषय का सम्यक् बोध कराने के साथ साथ उन विषयों में आसक्त न होने पाये।

नासिका से हम सुगन्ध या दुर्गन्ध का ज्ञान प्राप्त करते हैं और ऐसा ज्ञान प्राप्त कराना इस इन्द्रिय का कर्तव्य भी है, पर यदि हम सुगन्ध में इतने आसक्त हो जायें कि अमुक फूल की सुगन्ध लेने के लिये बार-बार उसके पास ही जाते रहें या उस फूल के इत्र को तन पर लगा इस आसक्ति की आकांक्षा को पूरी करें या अन्य लोगों के तन पर लगी सुगन्ध, जो उससे भी अच्छी होने के कारण, उसे प्राप्त करने के लिये आतुर हो उठे तो यह आसक्ति हमें अपने चारित्रिक-पतन की ओर ही ले जाती है। कामना और वासना की लहर उठा कर हमें कुमार्ग की ओर ले जाती है। हमारा चरित्र निर्माण करा नहीं पाती।

श्रोत्र इन्द्रिय से हम पुण्यात्माओं के उपदेश सुनें, आर्ष ग्रन्थों का पाठ सुनें, महापुरुषों की कथायें और गाथायें सुनें, भगवत् भजन और कीर्तन सुनें, अपने बोले भद्र शब्द सुनें, अन्यों की बुराई न सुनें,केवल उनकी अच्छाई ही सुनें, भद्रता का वर्णन ही सुनें, किसी का आर्त्तनाद सुन तुरन्त सहायता के लिये दौड़ पड़ें, तब तो हम इस इन्द्रिय का यथार्थ उपभोग कर पाते हैं, पर यदि हम केवल रासलीला ही सुनते रहे, राग-रागनियों में रमते रहे, कामुक संगीत सुनते रहे, अन्यों की बुराई और अपनी तारीफ सुनने को ही आतुर रहे तो हम अपने चरित्र निर्माण के मार्ग से भटक जाते हैं।

चक्षु हमें प्रभु रचित सृष्टि का सौन्दर्य दिखाते हैं, प्रभु की सार्वभौम सत्ता का बोध कराते हैं, प्रभु की विज्ञानमय शिल्प-कला और चित्रकारी का दृश्य दिखाते हैं और हमें कर्मशील बनाते हैं। आचार्यों के ग्रन्थों का स्वाध्याय कराते हैं, विज्ञान के नये-नये आविष्कार कराने में सहायक होते हैं और जनहित कार्य कराने में हमें सफलता प्राप्त कराते है। आँखों को हमें इतना सुशिक्षित और अभ्यस्त करना है कि हम भद्र दृश्य ही देखें, अभद्र दृश्यों की ओर उपेक्षा वृत्ति रक्खें. दीन दुखियों की दयनीय दशा देखें और उनकी सहायता करें। "आत्मवत् सर्व भूतेषु" और "मातृवत् परदारेषु पर द्रव्येषु लोष्टवत्" ही देखें तो हम रूप इन्द्रिय का सही उपभोग करते हैं। पर यदि हम इस में आसक्त हो पराये धन को हड़पने और पर स्त्रीयों पर पुरुष को कुदृष्टि से देखने की हविस रक्खें तो स्पष्ट है कि हम इस इन्द्रिय का दुरुपयोग ही करते हैं और अपने चरित्र का पतन ही करते हैं।

रसना इन्द्रिय में आसक्त व्यक्ति तो अपना तन और मन दोनों ही नष्ट-भ्रष्ट कर बैठता है। स्वाद के पीछे अपना स्वास्थ्य बिगाड़ बैठता है, मन को अपवित्र कर बैठता है और रसना की लालसा में अनेकानेक असामाजिक और आचार भ्रष्टता के कार्य कर बैठता है। उसका भोजन और जीवन सात्विक नहीं रहता। वह उपासना के सोपान से फिसल जाता है। अतः इस इन्द्रिय का निग्रह करना तो हमारे लिये और भी अधिक आवश्यक हो जाता है।

स्पर्श इन्द्रिय हमें कोमल, कठोर, ठोस, द्रव, ठन्डा, गरम, पीड़ा आदि का ज्ञान कराती है, जलवायु का प्रभाव महसूस कराती है, गर्मी और सर्दी का अनुभव कराती है, अन्धेरे या नेत्रहीन व्यक्तियों को स्पर्श से वस्तुओं की पहिचान कराती है,

नेत्रहीन को स्पर्श से अक्षर पहिचानने और स्वाध्याय करने में सहायक होती है। शरीर को सुख और कष्ट का अनुभव कराती है। इस इन्द्रिय को समुचित नियन्त्रण में रख इनका सदुपयोग करने के बजाय यदि इससे हम केवल कोमल और शरीर को सुख पहुँचाने वाले पदार्थों को ही प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे, मुलायम सेज पर ही सोते रहने की कामना करते रहे, कोमलाङ्गिनों का ही आलिङ्गन करते रहे तो हम संयमी जीवन से कतराते रहेंगे, ऐशो आराम का जीवन व्यतीत करते रहेंगे, बलिष्ट व पुरुषार्थी बन नहीं पायेंगे और जनहित कार्य करने से वञ्चित रहेंगे।

इस प्रकार हमें अपनी ज्ञान इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना होता है। यदि इन्हें नियन्त्रण में न रख हम उनसे प्राप्त विषयों की वासना में आसक्त होते रहें तो हम अपने आचरण को सुधार नहीं पाते और ऐसी स्थिति में हम प्रभु के कृपा पात्र बन नहीं पाते। जब प्रभु की कृपा ही न हो तो हम उसके समीपस्थ होने का स्वप्न ही कैसे देख सकते है? अपनी उपासना को सफल बना ही कैसे सकते हैं?

कर्म इन्द्रियों का मार्जन

कर्म इन्द्रियों का तो आचार और चरित्र निर्माण के प्रति और भी अधिक महत्व है। यक्षमन जो इनका सचालन करता है वह स्वयं और यह इन्द्रियाँ रजोगुणी होने के कारण अत्यधिक चंचल ओर चपल होती हैं। अतः इनका नियन्त्रण और निग्रह उपासना की तैयारी की दिशा में और भी अधिक वाञ्छनीय हो जाता है।

कर्म इन्द्रियाँ प्रभु ने हमें कर्म करने को दी हैं। प्रभु का आदेश है कि हम कर्मनिष्ठ बनें। मनीषी और विद्वान महापुरुषों का अनुसरण कर कर्म यज्ञ रचायें। 'येन कर्माण्यपसोमनीषिणो

'यज्ञं कृण्वन्ति विदथेषु धीराः' के अनुसार हम सदा प्रार्थना करते रहे हैं कि जिस प्रकार मनीषी अर्थात् बुद्धिमान व धीराः अर्थात् विद्वान् लोग, अपसः अर्थात् कर्मनिष्ठ लोग, जीवन का यज्ञ रचाते हैं अर्थात् कर्म करते हैं, और उसमें सफल होते हैं उसी प्रकार हम भी मनीषी और धीर होकर कर्मनिष्ठ बनें। मन को शुभ सङ्कल्प वाला बना इसे कर्म-यज्ञ का यजमान बनावें और इन्द्रियों को प्रशिक्षित कर योग ऋत्विज् बनावें। आत्मा को अर्थात् स्वयं को ब्रह्म बना यजमान और ऋत्विजों की बाग-डोर अपने हाथ में लें और फिर कर्मयज्ञ रचाय तब ही हम इस यज्ञ को सफलता से सम्पूर्ण कर सकते हैं। अतः हमें पहले यह निश्चय कर लेना है कि हमने मन पर पूर्ण अधिकार कर लिया हैं या नहीं, उसे प्रत्यग्भान बना दिया है या नहीं, और इन्द्रियों को प्रशिक्षित बना उन्हें नियन्त्रित कर लिया है या नहीं। इसके लिये हमें अपनी कर्म-इन्द्रियों का पूरा परीक्षण कर लेना वाञ्छनीय है।

हमें देखना है कि हमारी वाणी सत्य और केवल सत्य ही बोलती है या नहीं? क्या यह मृदुभाषी है या नहीं? क्या यह मितभाषी है या नहीं? क्या यह ऐसा कटु सत्य तो नहीं बोलती जिससे किसी भद्र पुरुष का अहित हो? क्या यह सरस मधुर और आकर्षक है या नहीं? क्या वह गाली गलोज तो नहीं करती? सिर तो नहीं फुड़वाती? त्राहि त्राहि तो नहीं मचवा देती? क्या यह भगवत् भजन और कीर्त्तन करने को आतुर है? यदि नहीं तो उसे इस योग्य बनाना है। हमें अपनी प्रतिदिन की दिनचर्या का हिसाब रखना है। डायरी में नोट करना है कि आज दिन भर सत्य बोलेंगे, और प्रिय सत्य ही बोलेंगे। अप्रिय सत्य नहीं बोलेंगे। अन्धे को अन्धा न कह सूरदास ही कहेंगे। इस प्रकार हम शालीनता से आचरण करते

हुए मनु महाराज के आदेश "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्" का पालन कर सकेंगे। महाभारत की इस शिक्षा को भी सदा ध्यान में रखेंगे।

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत।
यद् भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम॥

अर्थात् "सत्य बोलना अच्छा है, सत्य से भी ऐसा बोलना अच्छा है जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता हो, वही हमारे मत में सत्य है।"

'वाग्यज्ञेन कल्पताम्' हम वाणी द्वारा यज्ञ करें। अर्थात् हम यह व्रत लें कि दिन भर शिष्ट संवाद करेंगे, अभिमान और अहंकारी की भाषा नहीं बोलेंगे, वार्तालाप के दौरान अपनी ही शेखी भरी गाथा नहीं गायेंगे बल्कि मित-भाषी बन दूसरों की बातें अधिक सुनेंगे, चापलूसी के रूप में किसी की झूँठी प्रशंसा नहीं करेंगे। हमारी निन्दा करने वालों को भी अपशब्द नहीं कहेंगे वरन् सरल और मृदु भाषण से उनका मन जीतेंगे। अथर्ववेद में दर्शाये इस आदेश को यथावत् अपनायेंगे कि--

एका च मे दश च मेऽपवक्तार औषधे।
ऋतजात ऋतवारि मधु मे मधुला करः॥

अथर्व० का० ५ सू० १५ मं० १

अर्थात् हे (ऋतजात) सत्य रूप में उत्पन्न हुई ऋतवारि) सत्य में सदा वर्त्तमान रहने वाली (ओषधे) बलकारिणी सत्य-वाणी तू (मधुला) आनन्द रस को प्राप्त कराने वाली मधुमयी होकर (एका च मे) मेरी अकेली ही (मे मधुकरः) मेरे लिये अमृतमय आनन्द ही उत्पन्न कर. चाहे (मे) मेरे (अपवक्तारः) अपवाद करने वाले विरोधी निन्दकगण (दश च मे) दश भी क्यों न हों।

अतः हम यह दृढ़ निश्चय करें कि उस परिस्थिति में

भी जब हमारे बिरोधी हमसे दुर्वाद करें, हम मृदुभाषी ही बने रहें और व्यर्थ में कटु बचन बोल झगड़ा फिसाद मोल न लें। सन्ध्या में 'ओं वाक् वाक्' द्वारा हम यही प्रेरणा लेते हैं।

वाणी कभी-कभी न जाने क्या-क्या बे सिर पैर की अनर्गल बातें कह बैठती है, जमीन आसमान की डींगें मारती है, झगड़े फिसाद करवा कर सिर फुड़वा देती है और तारीफ यह कि स्वयं भीतर ही छिपी रहती है। मार विचारे सिर को खानी पड़ती है। रहीम जी ने इस तथ्य को बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णित किया है कि—

रहिमन जिव्या बावरी, कहि गई सरग पातल।
आप कह भीतर रहे, जूती खात कपाल ॥

एक बार एक राजा अपने मन्त्री और सेवक सहित शिकार खेलने गये। जंगल में बहुत दूर निकल गये। रास्ता भटक गये, वापिस लौटने के लिए मार्ग का पता लगाना आवश्यक था। पर समस्या थी कि रास्ता पूछे तो किससे पूछे? आस-पास कोई बस्ती न थी। उधर सन्ध्या होने लगी थी अन्ततः इधर-उधर भटकने के बाद एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ एक सुन्दर झरना था। पानी पिया और थोड़ी देर विश्राम करने बैठ गये। उसी समय राजा ने कहा यहाँ झरने के समीप कोई न कोई व्यक्ति अवश्य रहता होगा, देखो पता लगाओ"।

राजा का एक सेवक इधर-उधर पता लगाने निकला। दूर एक झौंपड़ी दिखाई दी। वहाँ पहुँच कर देखा कि एक अन्धा साधु अपनी कुटिया में बैठा भगवत् भजन कर रहा है। नौकर ने पास जाकर पूछा "क्यों जी अन्धे बाबा! शहर को रास्ता कौन सा जाता है?" साधु ने कोई उत्तर नहीं दिया। नौकर निराश लौटा और बोला 'श्रीमान् पास ही एक कुटिया

में एक साधु अवश्य रहता है, अन्धा है, रास्ता पूछने पर कुछ बोला नहीं। राजा ने मन्त्री से कहा "जाओ तुम पूछो"। मन्त्री ने जाकर पूछा "सूरदासजी शहर को रास्ता कौन सा जाता है"! साधु ने उसे भी कोई उत्तर नहीं दिया। मन्त्री ने लौट कर कहा "श्रीमान् ऐसा लगता है कि वह साधू अन्धा और गूंगा भी है, कोई उत्तर ही नहीं देता। इस पर राजा स्वयं साधु महाराज के पास गये और बोले "भगवन्! हम रास्ता भटक गये हैं, शहर का रास्ता बता सकें तो बड़ा ही उपकार करेंगे"। साधु बोला "राजन्! आधा कोस दक्षिण की ओर जाने पर जो मार्ग मिले उससे पश्चिम की ओर चले जाना, शहर पहुँच जावेंगे"। राजा ने कृतज्ञता प्रकट की और पूछा "महाराज आपने कैसे जाना कि मैं राजा हूँ। साधु ने कहा 'यह तो बड़ी साधारण सी बात है। सबसे पहले जो व्यक्ति आया और मुझे अन्धा बाबा कह कर सम्बोधित किया तो मैं समझ गया कि यह कोई निम्न स्तर का व्यक्ति ही होगा। शहर का रास्ता पूछता है अतः शहर का रहने वाला ही होगा। शहर के व्यक्ति इस विरान जङ्गल में अकेले कम ही आते हैं। अतः मैं समझ गया कि इसके साथ और भी कोई व्यक्ति होंगे। फिर उसकी वाणी से मैं यह भी समझ गया कि वह कोई नौकर ही हो सकता है। जब दूसरा व्यक्ति आया और मुझे सूरदास जी कहकर पुकारा तो मैं समझ गया कि यह कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति है और हो सकता है कोई अधिकारी हो, और जब आप आये और मुझे इतने आदर सूचक शब्दों से सम्बोधित किया तो मैं समझ गया कि आप राजा ही हो सकते हैं जो इस बीहड़ वन में शिकार खेलने आये होंगे। दूसरे व्यक्ति ने जब मुझे पढ़े-लिखे होने का परिचय दिया और आपको उससे भी अधिक शिष्ट पाया तो समझगया कि दूसरा व्यक्ति आपका अधिकारी मन्त्री रहा होगा

और आप राजा ही होने चाहिए"। यह है वाणी का प्रभाव। व्यक्ति के बड़प्पन या छोटेपन का तुरन्त पता लग जाता है, इससे। अतः हम प्रयत्न करें कि—

वाणी ऐसी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहुँ शीतल होय॥

ऐसी वाणी बोलें कि हम अपना आपा अर्थात अपने अहंकार और अभिमान को खोकर अन्यों को आदर दें और उन्हें शान्ति पहुँचावें। वाणी हमारी गम्भीरता, शालीनता और शिष्टता का तुरन्त परिचय दे देती है।

पाणि—हमारे कर्म-यज्ञ के दूसरे ऋत्विज हैं पाणि अर्थात् हाथ। कर्म-यज्ञ में आहुति डालने के लिए इन्हीं को सबसे अधिक अधिकार मिला हुआ है। शक्ति प्राप्त कर लेने पर और अनियन्त्रित हो जाने पर यह हाथ कैसे-कैसे घिनौने कार्य कर बैठते हैं इसका परिचय हमें इतिहास दे रहा है। अन्यों का अधिकार छीनने, धन-सम्पत्ति लूटने, जमीन व जोरू हथियाने, निर्दोष की हत्या करने, उन्हे अपाहिज बनाने, आग लगाने, खून की नदियां बहाने और मानवता का नृशंस संहार करने वाले हाथ ही हैं। अतः इन्हें प्रशिक्षित और नियत्रित करना ही है। इन्हें अपने पूर्ण अधिकार में रखना ही है तब शायद यह अनाथ और निस्सहाय की सहायता करने को आगे बढ़ेगे। अकाल से पीड़ित लोगों को भोजन व वस्त्र बाटेंगे। रोगी की सेवा करेंगे। सड़क पर पड़े जख्मी व्यक्ति के पट्टी बाँधेंगे और उसे अस्पताल पहुँचायेंगे। बाढ़ में बहते प्राणियों को अपने प्राणों की बाजी लगा कर प्रचण्ड जलधारा से बाहर निकालेंगे। अग्निकाण्ड में झुलसते बच्चों की प्राण रक्षा करने के लिए अपने आपको झुलसा देंगे। तड़पते रोगी का आपरेशन कर उसे राहत पहुँचा देंगे। शिल्प, उद्योग, उत्पादन, व्यापार व व्यवसाय

को बढ़ावा दे जनहित कार्य करेंगे। अपनी सत्य और श्रम की कमाई से यथा शक्ति दान करेंगे। अन्यायी और अत्याचारी का मद मर्दन करेंगे। 'बाहुभ्याम् यशोबलम्' 'करतल कर पृष्ठे' की दैनिक प्रार्थना को चरितार्थ करेंगे और देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अथिति यज्ञ एवं बलिवैश्वदेव यज्ञ को निरन्तर करते रह कर संसार का उपकार करेंगे।

पाद—अर्थात् पाँच इन्द्रिय शरीर का सतम्भ हैं। शरीर के अन्य सभी भागों पांवों पर ही आधारित हैं। पांवों से तप होता है। शास्त्रों में इन्हें तपोलोक भी कहा है। वैदिक सन्ध्या में 'तपःपुनातु पादयो' कह कर हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमारे पाँव जो सदा तप करते हैं पवित्र हों, अर्थात् शुभ आचरण करने वाले हों, सत्य-पथ पर चलने वाले पाँव ही शरीर को चलने, फिरने, दौड़ने महनत मजदूरी करने और पुरुषार्थी बनाये रखने में सहायक सिद्ध होते हैं। आकस्मिक भयावह घटनाओं के घटित होने पर पांव में विलक्षण गति पैदा होती है। वह तेज रफ्तार से भगा कर हमें भय के स्थान से दूर-दूर ले जाते हैं। जब डर कर हम भागते हैं तो उस स्थिति में हमारा मन भी विक्षिप्त हो जाता है और हृदय वेग से धड़कने लगता है, सभी अवयवों की गति तीव्र हो जाती है, पर पाँव यदि काम करना बन्द कर दें तो हमारे आन्तरिक अवयवों की गति भी मन्द पड़ जाती है और उनकी कार्य कुशलता में न्यूनता आ जाती है। भोजन ठीक से पच नहीं पाता, आँतों की शिथिलता के कारण कोष्टबद्धता रहने लगती है, रक्त का दबाव कम होने लगता है, आन्तरिक ग्रन्थियों का स्राव घट जाता है और लगभग सारे शरीर ही में शिथिलता महसूस होने लगती है। शारीरिक बल में कमी होने लगती है। पाँव योगाभ्यास में आसन जमाने में भी प्रमुख भूमिका निभाते

हैं। आसन जब ठीक से लग जाता है तब हम मन बुद्धि और चित्त को स्थिर कर पाते हैं, और उपासना की तैयारी में आगे कदम बढ़ा पाते हैं। पाँवों में यदि विकार आ जाय, लकवा मार जाय, या हम कुमार्ग-गामी हो जायें, अभ्यागत और निःसहाय को ठोकरें ही मारते फिरें तो स्पष्ट है उनमें सात्विक गुणों का ह्रास होने लगता है, आसन-सिद्धि की शक्ति न्यून हो जाती है और हम ध्यान, धारणा और समाधि के प्रयासों में सफल हो नहीं पाते। अतः पाँवों को यथार्थ तपस्वी बनाना और नियन्त्रण में रखना अत्यावश्यक हो जाता है।

उपस्थ—उपस्थ इन्द्रिय मूत्र-विसर्जन और सन्तानोत्पत्ति की इन्द्रिय है। यदि उसकी मूत्र-विसर्जन क्रिया किसी रोगादि के कारण अव्यवस्थित हो जाय तो हम अपने शरीर में पल-पल पर उत्पन्न होने वाले विकारों को बाहर फेंक नहीं पाते और 'यूरीमिया' जैसी भयङ्कर व्याधि से ग्रसित हो मृत्यु के ग्रास ही बनते हैं। शरीर की आन्तरिक स्वच्छता बनाये रखने में यह इन्द्रिय अति ही सहायक सिद्ध होती है। साथ ही साथ मैथुन और सन्तानोत्पत्ति इसका दूसरा कर्म है। मनु महाराज ने अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी के लिये आठ प्रकार के मैथुन से बचने का वर्णन किया है। हम इसके विस्तार में न जाकर केवल इतना ही लिखना उचित समझेंगे कि विद्याध्ययन के समय तो युवक-युवतियों को पूर्णसंयम से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना ही चाहिये किन्तु गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने पर भी काम वासना के शिकार न बन अनियमित विषय भोग से बचे रहना ही श्रेयष्कर है। ऋतुगामी बन संयम से रहना और शारीरिक शक्ति व सुस्वास्थ्य को बनाये रखना ही परम हितकर है। सन्तानोत्पत्ति तो गृहस्थ का धर्म है पर "वरमेको गुणी पुत्रो" के आदर्श पर कम सन्तान

उत्पन्न करना ही श्रेयकर है जो स्वस्थ व सबल हो और जिसे हम सुयोग्य व सुशील बना सकें। ऐसी सन्तान कुल की मान-मर्यादा और शोभा बढ़ाती है। अनियमित सन्तानोत्पत्ति सदा दुःख और दरिद्रता का कारण बनती है।

आज की युवक पीढ़ी में जब संयम नहीं रहा तो देश के हित में केन्द्रिय सरकार को परिवार नियोजन के विस्तृत कार्य-क्रम को हाथ में लेना पड़ा। तीसरी पंचवर्षीय योजना में जहां इस कार्यक्रम के लिये २७ करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया वहाँ चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में ३१५ करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है। इतनी बड़ी धनराशि का व्यय केवल इस योजना पर होना सच में घोर लज्जा व दुर्भाग्य का विषय है। हम तो संयमी न रहें कौर हमारी विषय-वाषना के परिणाम स्वरूप सन्तति निरोध पर सरकार को इतनी बड़ी राशि व्यय करनी पड़े और वह भी कृत्रिम साधनों के प्रयोग पर, यह कैसी विडम्बना है। देश, समाज, समुदाय और परिवार के हित में यही श्रेयकर है कि हम संयम से रहें और शास्त्रानुकूल ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करें। तभी हम कृत्रिम निरोध के महापाप से बचेंगे।

ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल संयम और वीर्य रक्षा का ही नहीं है वरन् ब्रह्म में विचरने का अर्थ भी है। ब्रह्मचर्य के बल पर ही हम प्रभु कृपा के पात्र बन पाते हैं। अपने विज्ञानमय और आनन्दमय कोष का विस्तार कर पाते हैं और प्रभु दर्शन का सुयोग प्राप्त कर पाते हैं। उपासना की सम्यक् तैयारी कर पाते हैं। ब्रह्मचर्य का तो इतना महत्व है कि उससे मृत्यु भी दूर भागती है। पवित्र वेद के शब्दों में—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरद्॥

—अथर्व. का. ११. सू. ५. मं. १९

अर्थात् देवता ब्रह्मचर्य और तप से मृत्यु को सदा मार भगाते हैं। इन्द्र ब्रह्मचर्य से देवताओं के लिए दिव्य प्रकाश लाता है।

अतः उप इन्द्रिय का संयम और उस पर पूर्ण अधिकार उपासना के साधन के लिये अत्यन्त ही आवश्यक है। यदि उप-स्थ और रसना इन्द्रियों पर हमारा पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है तो हम अपना परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार का वाञ्छित उपकार करने में भी समर्थ हो पाते हैं।

पायु—मल त्याग की इन्द्रिय है। शारीरिक शुद्धता पवित्रता और शौच नियम का यथावत् पालन कराने वाली यही इन्द्रिय है। योगाभ्यासी इस इन्द्रिय का मूलाधार चक्र पर ध्यानावस्थित होने का प्रयोग करते हैं और योग की मूलबन्ध या उड्डियान बन्ध क्रिया को सम्पादित करते हैं। यही क्रिया इस इन्द्रिय की निग्रह क्रिया कहाती है।

ज्ञान व कर्म इन्द्रियों का निग्रह और निग्रह करने के बाद हमारी उपासना की तैयारी की दिशा में दूसरा चरण योग के अष्टाङ्गों का पालन करना है। पातञ्जल योग दर्शन के साधना पाद के २९ वें सूक्त में इन आठ अङ्गों का वर्णन इस प्रकार है—

"यम नियमासनप्राणायाम प्रत्याहारधारणाध्यानसमा-धयोऽष्टावंगानि"

अर्थात् यह आठ अङ्ग हैं (1) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि। इन आठ अङ्गों का सिद्धान्त रूप फल संयम है।

(१) **यम**—क्या हैं ? इनका वर्णन योग दर्शन के इसी पाद के ३० वें सूक्त में इस प्रकार किया गया है :—

"अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।"

अर्थात् (क) अहिंसा (ख) सत्य (ग) अस्तेय (घ) ब्रह्म-

चर्य और (च) अपरिग्रह यह पांच यम हैं। योग के इन आठ अङ्गों में यम प्रधान अङ्ग है। उपासना की तैयारी में तो यह सर्व श्रेष्ठ साधन है ही, पर आज के संसार में अशान्ति, असन्तोष, भय संशय, दुःख क्लेश और अनेकानेक विपत्तियों के निराकरण का भी यह सर्वोत्तम साधन है। यहाँ प्रत्येक अंग पर संक्षेपतः विचार करेंगे।

१–(क) **अहिंसा**—अहिंसा का सीधा सा अर्थ है मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार की पीड़ा, दुःख, व हानि नहीं पहुँचाना। मन से किसी के प्रति अशुभ भावनाओं को पैदा नहीं होने देना, ईर्षा, द्वेष, घृणा और वैमनस्यता को पनपने नहीं देना, हीन मनोवृत्ति पैदा नहीं होने देना, सबके प्रति स्वात्मवत् भावना ही रखना और सबके कल्याण की ही कामना करना मानसिक अहिंसा कहा है। मन जब अहिंसा के मार्ग का अवलम्बन करता है तो वचन और कर्म स्वतः ही अहिंसा के मार्ग पर चलने लगते हैं। मन यदि पवित्र है, उसमें राग द्वेष नहीं हैं, घृणा और वैमनस्यता नहीं है तो वाणी कभी भी ऐसे शब्द नहीं बोलेगी जिससे किसी को मानसिक वेदना पहुँचे, कष्ट या पीड़ा हो। तब हमारे हाथ किसी निर्दोष पर नहीं उठेंगे। पाँव किसी को ठोकर नहीं मारेंगे। हम किसी के अधिकारी को या सम्पत्ति को नहीं छीनेंगे और कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेंगे जिससे दूसरों का दिल दुःखे और हमारा वह कार्य हिंसा बने। यहाँ तक कि हम शोर गुल करके, ऊँची आवाज में रेडियो बजाके या लाउड स्पीकर पर रात-रात भर गाना-बजाना या कीर्तन ही करके अड़ौसी-पड़ौसी को मानसिक व्यथा नहीं पहुँचावेंगे, उनकी नींद हराम करके हिंसा के भागी नहीं बनेंगे। पर अन्यायी और अत्याचारी को दण्ड अवश्य देंगे। उसमें हिंसा नहीं बनती।

युद्ध में दुश्मन पर गोली चलाना शुद्ध 'अहिंसा' है। आतातायी को दण्डित न करके हम कर्तव्य-पथ से विमुख तो हो ही जाते हैं, साथ ही हिंसक' को अपने क्रूर कर्मों के लिए अबाध अवसर देकर 'हिंसा' वृत्ति को बढ़ाने के दोष-भागी बनते हैं। हिंसा मनोवृत्ति पर निर्भर करती है। यदि हम किसी की भलाई के लिए उसके शरीर को पीड़ा पहुँचाते हैं, जैसे डाक्टर के सुई या नश्तर लगाने पर होती है, तो वह हिंसा नहीं होती। डाक्टर से यदि ऑपरेशन कराते समय रोगी की मृत्यु भी हो जाय तो भी वह 'हत्या' नहीं मानी जाती, क्योंकि डाक्टर की मनोवृत्ति पवित्र थी, रोगी को ठीक करने के इरादे से ही उसने आपरेशन हाथ में लिया था। अतः किसी को मानसिक वेदना न हो, शारीरिक कष्ट न हो, निर्दोष की मारपीट व हत्या न हो, आगजनी व लूटपाट न हो, हिंसात्मक आन्दोलन न हो, देश की सम्पत्ति का नुकसान न हो, ट्राम, ट्रेन, बस आदि की तोड़-फोड़ न हो तभी हम अहिंसा के मार्ग का अवलम्बन कर पाते हैं।

१—(ख) **सत्य**.—सत्य के सम्बन्ध में पहले भी बहुत कुछ लिखा जा चुका है, अतः यहाँ केवल इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि जैसा देखा सुना या अनुभव किया हो, जैसा यथार्थ हो, वैसा ही कथन करना। जिससे किसी की हानि न हो, किसी को दुःख न हो और किसी का अहित न हो, बल्कि प्राणिमात्र का उपकार हो, वही सत्य है। प्रभु को सत्य ही प्रिय है और इसीलिए प्रभु ने बार-बार हमें वेदों में सत्य और प्रिय सत्य बोलने ही का आदेश दिया है। सत्य ही को मनुष्य के आचरण का आधार बनाया है। जब प्रभु को सत्य प्रिय है तो प्रभु दर्शनार्थ हमें उपासना की तैयारी में सत्य और केवल

सत्य ही का सहारा लेना है। सत्याचरण को ही अपना मुख्य ध्येय बनाना है। क्योंकि 'सत्यं स्वर्गस्य सोपानम्'

१-(ग) अस्तेय—अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। किसी का धन, माल, असबाब या सम्पत्ति का उसकी आज्ञा के बगैर हथिया लेना चोरी है, और जबरदस्ती छीन झपट लेना डकैती है। प्रभु ने हमें कर्म करने योग्य बनाया है। मन, बुद्धि और इन्द्रियों से सत्कर्म में पुरुषार्थी बनने का आदेश दिया है। सत्याचरण से धन कमाने का आदेश दिया है। किसी के धन को हथियाने का निषेध किया है "मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" अर्थात् किसी के धन को (मा) मत (गृधः) ला या लूटो। तब हम चोरी क्यों करें? किसी की सम्पत्ति को क्यों लूटें? किसी के गाढ़ पसीने की कमाई को रिश्वत से हथिया कर चोरी का अपराध क्यों करें, हमारा कर्त्तव्य तो यह है कि ईमानदारी से धन कमावें, अपनी आवश्यकताओं को यथा सम्भव कम करें और बचे धन का दान देकर उसका सदुपयोग करें।

चोरी केवल दूसरों के धन को उनकी आज्ञा के बिना ले लेने पर ही तो नहीं होती! आज तो चोरी कई रूप में होने लगी है। टैक्स की चोरी, रेल भाड़े की चोरी, मिल मजदूरों के बोनस की चोरी, कीमतों की चोरी, कम और खोटा तालने की चोरी, मिलावट की चोरी, काम की चोरी, परिग्रह से माल को छिपा कर संग्रह करने और जरूरतमन्द जनता को उससे वञ्चित करने की चोरी, किसी की उन्नति में बाधक बन उसके हक को छीनने की चोरी, सत्य सनातन वेदों के सही ज्ञान को छिपाने की चोरी, भोली-भाली जनता को भ्रम-जाल में फँसाने के लिये सत्य शाश्वत शास्त्रों में मनमानी मिलावट करने की चोरी, लोगों के घरों में, समाज और देश में या देश-देशान्तरों में फूट डाल कर जनता की सुख-शान्ति को छीनने की चोरी

और युद्ध भड़का कर देश-देशान्तरों की स्वतन्त्रता छीनने की डकैती आदि ऐसी कितनी हो चोरियाँ हैं जो दिन-रात होती रहती हैं और जो हमें पाप के गहरे गड्ढे में ढकेलती रहती हैं। अतः इस पाप से बचने और अपनी उपासना को सफल बनाने के लिए हमें 'अस्तेय व्रत' का पालन करना अनिवार्य हो जाता है।

१— (घ) **ब्रह्मचर्य**—ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में इसी अध्याय में विचार हो चुका है।

१— (ङ) **अपरिग्रह**—अपरिग्रह का अर्थ है आवश्यकता से अधिक किसी भी वस्तु का संग्रह न करना चाहे वह अन्न हो, वस्त्र हो, धन हो, वैभव या सम्पत्ति हो, भोग विलास की सामिग्री हो या आवश्यकता से अधिक आवास व कोठियाँ हों। अपरिग्रह व्रत का पालन होने लगे तो आज अर्थवाद, पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यदों और सभी वर्गवादों का झगड़ा ही मिट जाये। मिल-मालिकों और मजदूरों का झगड़ा खत्म हो जाय, मनुष्य कृत अकालों का अन्त हो जाय और वर्तमान अभाव की स्थिति का बहुत कुछ अन्त हो जाय। तब यह स्थिति न रहे कि किसी को तो अपने संग्रहीत धन दौलत की रक्षा के लिये ताले तिजोरियों की आवश्यकता पड़े, चौकीदार और सशस्त्र सेवकों की आवश्यकता पड़े और फिर भी दिन रात की चिन्ता हीं बनी रहे और दूसरी ओर असंख्य लोग अन्न, वस्त्र और आवास के लिये तरसते रहें।

अपरिग्रह का दूसरा अर्थ जो कि देव दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में किया है, यह है कि --"जब मनुष्य विषयासक्ति और अभिमानादि दोषों से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है तब मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, और मुझको क्या करना चाहिये। अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण

होगा इत्यादि शुभ गुणों का बिचार उसके मन में स्थिर होता है।" इसका अर्थ है कि मनुष्य विषयों में आसक्त होने वाली इन्द्रियों का नियन्त्रण रख, मर्यादा में रहे और धर्माचरण से जन हित के कार्य करे।

यम के इन पाँच अंगों का ठीक-ठीक अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है। यह अंग एक समय, एक देश या एक जाति के लिए नहीं हैं वरन् सबके लिए समान रूप से सब समय में पालन करने योग्य हैं। योग दर्शन के साधन पाद के ३१ वें सूत्र में यही कहा है कि —

"जाति देश काल समयानवच्छिन्ना, सार्वभौमा महाव्रतम्"

अर्थात् यह पाँचों यम, जाति, देश, काल व समय से (अनवच्छिन्न) अप्रभा वत सार्वभौम महाव्रत हैं।

(२) **नियम**—यम की भाँति योग दर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने नियम भी पाँच निर्धारित किये हैं। योग दर्शन के साधन पाद के ३२ वे सूत्र में नियमों का निम्न वर्णन किया है–

शौच संतोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः"

अर्थात् (१) शौच, (२) सन्तोष, (३) तप, (४) स्वाध्याय और (५) ईश्वर प्राणिधान पाँच ये नियम हैं। इनका भी उपासना की तैयारी में पालन करना अति आवश्यक है।

२-(क) **शौच**—शौच का अर्थ है पवित्रता। यह दो प्रकार की होती है—(१) ब्राह्य और दूसरी आन्तरिक। ब्राह्य पवित्रता शरीर और स्थान की होती है। हमारा शरीर स्वच्छ व पवित्र रहे, इसके लिए हमें व्यक्तिगत स्वास्थ्य के नियमों का पालन करना होता है। नित्य नियमित समय पर उठकर शौचादि से निवृत्त हो दन्त धावन करना, व्यायामादि करना, स्नानादि से शरीर को पवित्र करना,स्वच्छ वस्त्र धारण करना और स्वच्छ, शुद्ध व पवित्र सात्विक भोजन करना, शारीरिक

स्वच्छता बनाये रखते हैं। हमारे आवास व व्यवसाय के स्थान भी साफ-सुथरे रखना अति ही आवश्यक है। घर साफ हो, आंगन रसोई, शौचालय और स्नानागार उससे भी अधिक साफ हों, कमरों में सभी वस्तुयें व्यवस्थित रक्खी हों, चौक और घर के आस-पास कूड़े-कचरे का ढेर न लगा हो, फल व शाक सब्जी के छिलके वैसे ही खुले में न फेंके गये हों, मक्खियों और चूहों की भरमार न हो, खटमल, पिस्सू, झींगुर आदि न हों, दुर्गन्धित वातावरण न हो, नित्य प्रति हवन होता हो तभी उस स्थान में रहने या कार्य करने में मन को प्रसन्नता होता है और ईश्वरोपासना में ध्यान लग पाता है।

आन्तरिक पवित्रता बाहरी पवित्रता से भी अधिक महत्व की है। मन पवित्र हो, शुभ संकल्प वाला हो, सुविचारों वाला हो, शुद्ध मनोवृत्ति वाला हो, तभी आन्तरिक पवित्रता उपलब्ध हो पाती है। सत्य भाषण, सत्याचरण, आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय और सत्संग मन की पवित्रता को बनाये रखने में विशेष हितकारी होते हैं।

२-(ख) **सन्तोषः**—इसका अर्थ है पूर्ण पुरुषार्थ के साथ कर्त्तव्य पालन करने पर जो फल मिले उसी में सन्तुष्ट होना। अधिक लाभ या फल की इच्छा या कामना न करना। इच्छा तो सदा बढ़ती ही रहती है। वह कभी कम नहीं होती। यह तो वह अग्नि है जिसमें ज्यों-ज्यों इच्छा पूर्ति की आहुति दी जाय त्यों-त्यों वह और अधिक प्रज्वलित होती है। अतः अनधिकृत इच्छायें सदा दुःख का कारण बनती हैं। यथोचित पुरुषार्थ करना हमारा कर्त्तव्य है, पर फल प्रभु इच्छा पर ही छोड़ देना उचित है। लेकिन इसका अर्थ आलसी बन कर बैठे रहना नहीं है। यह सन्तोष नहीं कहलाता। पूर्ण पुरुषार्थ का जो

भी फल प्राप्त हो उसी में सुख और शान्ति का अनुभव वास्तविक सन्तोष है। महर्षि मनु ने कहा है—

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत।
सनतोष मूलं हि सुखं दुःख मूलं विपर्ययः॥

—मनु० ४।१२

सुख चाहने वाला परम सन्तोष पर आस्था करके संयमशील होवे, क्योंकि सन्तोष ही सुख का मूल है और इसके विपरीत असन्तोष दुःख का कारण बनता है।

२-(ग) **तपः**—तप का अर्थ है उद्देश्य प्राप्ति के लिए मेहनत करना, कर्मशील बनना और कर्तव्य पालन करते रहना, चाहे उसमें कितने ही कष्ट, क्लेश और दुःख क्यों न हों। "तपो द्वन्द्व सहनम्" सर्दी गर्मी, धूप, बरसात अथवा शीत, चाँदनी या काली अन्धेरी रात, आँधी तूफान, मान-अपमान, सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय का ध्यान न कर विवेक के साथ कर्त्तव्य कर्म (धर्म सम्पादन) करते रहना ही तप है। तप तीन प्रकार के होते हैं—शारीरिक, वाचिक और मानसिक।

शारीरिक तप से हम अपने और अन्यों के हित के लिये परिश्रम करते हैं, कल्याणकारी कार्य करते हैं दीन दुःखियों की सेवा और रक्षा करते हैं, रोगी की परिचर्या करते हैं और प्राणि-मात्र के लिए भलाई के कार्य करते हैं। अपने शरीर को भ्रमवश अन्धविश्वास से कष्ट देना शारीरिक तप नहीं है। मन्दिर में एक पांव पर कई दिन खड़े रहना, एक हाथ को ऊपर उठाये रखना भरी सर्दी में गीली चादर ओढ़े बैठे रहना, ज्येष्ठ की झुलसाने वाली गर्मी में अपने चारों ओर आग लगाकर बैठना या काँटों की शैया पर सोना शारीरिक तप नहीं होता। पुरुषार्थी बन नियत कार्य को तन्मयता से करना, कृषि व्यापार, उद्योग, व्यवसाय व नौकरी आदि में ईमानदारी से अपनी

शारीरिक शक्ति का योगदान दे अधिक से अधिक उत्पादन
बढ़ाना तथा समाज, देश और राष्ट्र को सम्पन्न व सबल बनाना
ही शारीरिक तप है।

वाचिक तप वाणी का तप कहलाता है। वाणी को सत्य,
प्रिय सत्य, मृदु और मितभाषी बनाना इसका तप है इस
सम्बन्ध में कुछ विस्तार से पीछे विचार कर चुके।

मानसिक तप से मन की शुद्धता पवित्रता और प्रसन्नता
प्राप्त की जाती है। व्यर्थ की चिन्ता; ईर्ष्या, द्वेष क्रोधादि का त्याग
किया जाता है।

मन का मैल दूर करने, सारे संशय मिटाने, मन की
गाँठें खोलने और अपने दुष्कर्मों का नाश करने पर हो मन की
पवित्रता और शुद्धता होती है, तभी मानसिक तप पूरा होता है
और तब प्रभु के दर्शनार्थ उपासना की तैयारी हो पाती है और
प्रभु दर्शन हो पाते हैं।

२— (घ) **स्वाध्याय**—आर्ष ग्रन्थों—वेद, उपनिषद्
दर्शन, मनुस्मृति, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, गीता सत्यार्थ प्रकाश
आदि ग्रन्थों का दत्त चित्तता से पठन पाठन व मनन करना
तथा इन ग्रन्थों से प्राप्त शिक्षाओं पर आचरण करना और
कराना स्वाध्याय है। महर्षि दयानन्द ने तो आर्यसमाज के
तृतीय नियम में **वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यों
का परम धर्म निधारित किया है**। अतः इन आर्ष ग्रन्थों का
पठन पाठन नियमित रूप से प्रत्येक आर्य परिवार में होना ही
चाहिये। तैत्तरीयोपनिषद् के नवम अनुवाक में स्वाध्याय और
प्रवचन का बड़ा ही महत्व दर्शाया है।

**ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च, सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च।
तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च, दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च॥
शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च, अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च।**

**अग्निहोत्रंचस्वाध्याय प्रवचने च, अतिथियश्चस्वाध्याय प्रवचने च।
मानुषं च स्वाध्याय प्रवचने च, प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च।
प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च, प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च॥**

...... इत्यादि

अर्थात् वेदानुकूल सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिये वेदादि
शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना सदा होते रहना चाहिये। सत्य
भाषण, स्वाध्याय व प्रवचन सदा होना चाहिए। तप (द्वन्द्व सहन
और पुरुषार्थी जीवन) के साथ-साथ स्वाध्याय, और प्रवचन
होते रहना चाहिए।। दम अर्थात् इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण
रखते हुए स्वाध्याय व प्रवचन करना चाहिये। शम अर्थात्
मन को वश में करते हुए स्वाध्याय व प्रवचन करते रहना
चाहिये। वेदादि शास्त्रों और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म, अर्थ
काम और मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से शिल्प विद्यादि की उन्नति
में प्रयत्नशील रहने के साथ-साथ स्वाध्याय करते रहना
चाहिये। अग्निहोत्र से वायु और वृष्टि जल की शुद्धता
से संसार का उपकार करने के साथ-साथ स्वाध्याय व प्रवचन
करते रहना चाहिए। अतिथि यज्ञ से विद्वान् सत्पुरुषों का आदर
सत्कार करके उनसे शिक्षा प्राप्त करना और स्वाध्याय करते
रहना चाहिए। सन्तान का पालन-पोषण करते हुए स्वाध्याय
व प्रवचन करते रहना चाहिये। जाति व समाज की सेवा करते
हुए स्वाध्याय व प्रवचन करते रहना चाहिए। इत्यादि।

इसके साथ-साथ हमें अपने आप को भी पढ़ना है। अपने
नित्य के कर्म और व्यवहार को समझना है। स्वध्याय का एक
अर्थ है—स्व + अध्ययन अर्थात् आत्म-निरिक्षण पूर्वक अपने
आचरण और व्यवहार का लेखा-जोखा लेना जिससे हम 'मानव'
संज्ञा को सार्थक कर सकें।

२—(ङ) **ईश्वर प्राणिधानः**—इसका अर्थ है अपने आप को और अपने कर्मों को ईश्वर के अर्पण करना। हम जो भी कर्म करें वह यह समझते हुए करें कि इन्हें प्रभु के अर्पण करना है। अतः इन कर्मों में कोई दोष न होने पावे। उस श्रेष्ठतम मित्र को हमें सर्वोत्तम वस्तु ही अर्पित करनी है, उपासना की सफलता में इस नियम का बड़ा भारी महत्व है। ईश्वर प्रणिधान की भावना उत्पन्न हो जाने पर साधक बड़ी ही सावधानी से अपने कर्म करेगा। उनमें कोई खोट नहीं आने देगा। सदा पवित्र कर्म ही करेगा जिन्हें प्रभु के सर्मपित करते समय उसे लज्जा न आये। भक्त की यही भावना इन शब्दों में प्रगटी है-

"का मुखि लें विनती करौं लाज लगत है मोहि।
तो देखत औगुन करौं कैसे भावों तोहि ॥"

जब हम अपने किसी सम्माननीय स्वजन को कोई वस्तु भेट करना चाहते हैं तो इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि वह अच्छी हो, शुद्ध हो, मिलावटी या इमिटेशन की न हो और यथासम्भव अच्छी कीमती भी हो। इसी प्रकार जब हमें अपने कर्म प्रभु को भेट करने हैं तो स्वाभाविक ही है कि वह अच्छे हों, शुद्ध और पवित्र हों ताकि हम साधिकार कह सकें :—

मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे है मोर ॥

विघ्नों का शमन

उपासना की तैयारी में कुछ विघ्न बाधायें भी उपस्थित हो जाती हैं जिनका निराकरण करना भी हमारा कर्तव्य है। यह बाधायें योग दर्शन के समाधि पाद के ३० वे सूत्र में इस प्रकार वर्णित हैं :—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः"। ३०।

अर्थात् व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, और अनवस्थितत्व यह ९ प्रकार की विघ्न बाधायें हैं जो चित्त में विक्षेप उत्पन्न करती हैं।

व्याधिः - शरीर के धातु और रसादि के बिगड़ने से, इन्द्रियों की विषमता से और रोगादि उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं के प्रहार से जो शारीरिक अस्वस्थता उत्पन्न हो उसे व्याधि कहते हैं। शरीर स्वस्थ रहे इसके लिये उचित आहार' उचित विहार—भ्रमण व्यायाम, खेल-कूद उचित निद्रा व संयम की आवश्यकता है। मनोविनोद भी आवश्यक है, पर उसमें काम वासना को उत्तेजित करने वाली सामिग्री न हो।

स्त्यानः सत्कर्मों में अप्रीति, चित्त की अकर्मण्यता, काम से जी चुराना और चित्त का चेष्टा रहित हो जाना स्त्यान कहलाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति ने अपने अन्दर निरुत्साह और निकम्मेपन का संस्कार उत्पन कर लिया है। यह संस्कार हमें कोई भी कार्य करने योग्य नहीं रखता। अतः इस निकम्मेपन को दूर भगाना होगा। अपनी कार्य करने की खोई हुई शक्ति को पनपाना होगा। उत्साह के साथ कर्म-शील बन काम में जुट जाना होगा।

संशय—दो विषयों में भ्रम पैदा होना ऐसी संदिग्ध भावनाओं का उत्पन्न होना कि दो में से कौन सा कार्य करूँ? यह करूँ या वह करूँ, इसका निश्चय नहीं कर पाना संशय कहलाता है। अर्जुन जैसे कर्मवीर योद्धा के सामने भी रणक्षेत्र में ऐसा ही संशय उत्पन्न हो गया था कि लड़ूँ या न लड़ूँ? संशय की स्थिति में विवेक से धर्म-अधर्म और नीति का निर्णय कर कार्य प्रारम्भ कर देना उचित है। आवश्यकता हो तो अनुभवशील विद्वज्जनों से परामर्श कर लेना हितकर है। व्यर्थ के

संशय में पड़े रहना उचित नहीं। "संशयात्मा विनश्यति', संशय में पड़े लोग अपना अहित कर बैठते हैं—नाश ही कर बैठते हैं।

प्रमाद—किसी कार्य के लाभ को जानते हुए भी उसे प्रारम्भ करने में टालम-टोल करना प्रमाद कहलाता है। कई बार इस प्रमाद के चक्कर में हम आवश्यक कार्य को जो पर आज और सभी ही करना चाहिए, यह कहकर टाल देते हैं कि "जल्दी क्या है कल कर लेंगे" और कल आने पर फिर उसे कल पर छोड़ देते हैं। इसका परिणाम असफलता और नराशा ही हो सकता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि आज का काम आज ही करें और अभी करें।

आलस्य—आलस्य वह अवस्था है कि जिसमें मनुष्य हाथ पाँव भी नहीं हिलाना चाहता। स्त्यान और आलस्य में इतना ही अन्तर है कि स्त्यान में मनुष्य का चित्त किसी काम में नहीं लगता, हांलांकि उसके हाथ पाँव ठीक कार्य करने योग्य हैं, पर आलस्य में चित्त के साथ साथ हाथ पाँव पर भी अकर्मण्यता की घटा छा जाती है। मनुष्य चाहते हुए भी यदि अपने हाथ पाँव न हिला सके तो वह जीते हुए भी मरे के समान हो जाता है। जब वह अपने अन्य साथियों को पुरुषार्थ करते देखता है और अपनी असफलताओं पर विचार करता है तो अपनी अकर्मण्यताओं पर रोता है। इस स्थिति में वह अपनी उपासना की तैयारी में तो सर्वथा पीछे ही रह जाता है।

अविरित— मन में विषयों के प्रति उत्पन्न हुई इच्छा, लालसा और तृष्णा अविरित कहलाती है। मन विक्षिप्त और अस्थिर बना रहता है। इच्छा और लालसा प्रबल होने के कारण मनुष्य का चित्त चंचल बना रहता है। उपलब्ध साधनों के होते हुए भी वह समय पर अपना कार्य सम्पादित कर नहीं पाता। इस स्थिति में अवरोध के लिए मन में बार-

बार उठने वाली विषय-लालसा की तरंगों को बन्द करना होगा। वैसे इच्छा और तृष्णा का सर्वथा अन्त करना तो असम्भव है पर अनधिकृत इच्छायें तो कम की जा सकती हैं। मनुष्य अपनी इच्छाओं का एक सीमित लक्ष्य बनाले और उसकी प्राप्ति के बाद अतिरिक्त इच्छाओं को तिरस्कृत कर दे ऐसा करना कठिन अवश्य है पर दृढ़ निश्चय से इस ओर अग्रसर होना ही चाहिए।

भ्रान्ति दर्शन—मिथ्या या विपरीत ज्ञान का होना और ऊटपटांग विचारों का पैदा होना भ्रान्ति दर्शन कहलाता है,जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ का अनुभव करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वर का भान कर पूजा करना। मनुष्य जब विषयों का अवधान से अध्ययन नहीं करता तब उसका विषय ज्ञान अस्पष्ट या विपरीत बना रहता है और उसे बार-बार अपने कार्य में असफल और निराश होना पड़ता है। भ्रान्ति दर्शन या मिथ्या दृष्टि को व्यक्ति स्वयं ही अपनी लापरवाही या उपेक्षा के कारण जन्म देता है और इसका उपचार भी उसे स्वयं ही करना होता है। महापुरुषों के उपदेश और सम्यक् स्वाध्याय से उसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए पूरा पुरुषार्थ करना होता है, तभी वह इस महा विघ्न से छुटकारा पा सकता है।

अलब्ध भूमिकत्व— प्रयत्न करने पर भी समाधि की स्थिति प्राप्त न होना अलब्ध-भूमिकत्व कहलाता है। साधक चित्त की जिस भूमि को प्राप्त करना चाहता है और जिससे समाधि योग में बैठता है वह प्राप्त न होने पर उसका चित्त विक्षिप्त हो उठता है। यह बाधा पहुँचे हुए साधक को ही सता पाती है, उपासना के साधारण साधक को नहीं, क्योंकि वह इस स्थिति तक शायद पहुँच ही नहीं पाये। योगी साधक

के लिये पाँच प्रकार की भूमिका वर्णित की गई है। वे हैं-क्षिप्त भूमि-जिसमें चित्त कभी स्थिर होता ही नहीं। मूढ़ भूमि-जिसमें तमोगुण की प्रधानता से चित्त पर अँधेरा ही छाया रहता है। विक्षिप्त भूमि—जिसमें साधक के चित्त में केवल किसी एक समय में स्थिरता हो पाती है। एकाग्र भूमि—जिसमें चित्त किसी एक विषय पर ही स्थिर हो पावे और निरुद्ध भूमि—जिसमें सभी वृत्तियों का निरोध होकर केवल संस्कार ही शेष रह जाते हैं। साधारण साधक के लिये एकाग्रभूमि पर्याप्त है।

अनवस्थितत्व—यह वह अवस्था है जिसमें एक साधक को उपयुक्त योग भूमि तो प्राप्त हो जाती है पर चित्त फिर भी उसमें स्थिर नहीं हो पाता। जैसे एकाग्रभूमि या निरुद्ध भूमि की प्राप्ति तो हो रही है – समाधि लग रही है, पर चित्त स्थिर नहीं होने से वह भूमि हाथ से निकल जाता है। जब यत्न करने पर भी कोई वस्तु या स्थिति प्राप्ति नहीं होती जैसा कि अलब्धभूमिकत्व में होता है तब खेद होता ही है, पर यदि वह प्राप्त हो जाय और फिर छिन जाय तो और भी अधिक खेद होता है। अनवस्थितत्व चित्त की इसी स्थिति का नाम है। कार्यक्षेत्र में भी व्यक्ति के कार्य की सिद्धि चित्त की एकाग्रता पर निर्भर करती है। चित्त में सत्वगुण प्रधान होने पर ही विक्षेप दूर होते हैं और एकाग्रता का अंकुर उगता है। इसके लिए मन, बुद्धि और चित्त पर पूर्ण अधिकार करने के लिये अभ्यास और तप की आवश्यकता होती है। इन सभी विघ्नों पर विजय पाने का अमोघ साधन है—ईश्वर प्रणिधान। भक्त हृदय रहीम जी के शब्दों में—

प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाइ।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिर जाइ।।

* * *

५

उपासना विधि

उपासना की विधि पर विचार करते हुए सर्वप्रथम तो हमें इस तथ्य को पूर्णतया स्वायत्त करना है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, सृष्टिकर्त्ता है, अजर-अमर, अभय और अनन्त, है नित्य और पवित्र है, निर्विकार और निराकार है और हमारे रग-रग में समाया हुआ है; अतः उसे ढूँढने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं। तीर्थ या मन्दिर, मठों में ढूँढने की जरूरत नहीं। उसे तो अपने ही अन्दर ढूँढना है। कविवर 'प्रकाश' जो के शब्दों में—

मन मंदिर में महादेव मिलें, मति मारे मैल मिटा मन का।"

'आत्मस्य जन्तोर्निहिता गुहायाम्' कहकर उपनिषद् के ऋषि ने भी आत्म-गुहा में ही उस प्रियतम के दर्शन-लाभ की घोषणा की है। सच तो यह है कि आत्मा को जान लेने पर प्रभु के दर्शन स्वतः ही हो जाते हैं। आत्मा सत्वगुणी होकर मन और बुद्धि पर जब पूर्ण अधिकार कर लेती है और मन को प्रत्यग्मान बना लेती है तब मन स्वतः ही इन्द्रियों पर अधिकार रखने लगता है। तब सत्कर्म होने लगते हैं, यम-नियमों का यथावत् पालन होने लगता है और उस स्थिति में चित्त पर अच्छे संस्कार अङ्कित होते हैं। मन, बुद्धि और चित्त पवित्र

होते हैं और तब पवित्र संस्कारों की आधारशिला पर मानवता का झण्डारोहण कर हम मानव कहलाने योग्य बन पाते हैं। मानव बन हम प्रभु के कृपा पात्र बन पाते हैं और उस स्थिति में कर्मकाण्ड का यथावत् अनुष्ठान कर हम ईश्वर स्तुति, प्रार्थना और उपासना से प्रभु दर्शन प्राप्त करने में सफल हो पाते हैं।

कर्मकाण्ड के अनुष्ठान में हमें दो पहलुओं पर विचार करना होगा। एक तो अभीष्ट कर्मों का अनुष्ठान और दूसरा यज्ञ।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के "वेद विषय विचार" प्रकरण में लिखते हैं कि "कर्मकाण्ड क्रिया प्रधान ही होता है, जिसके बिना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते ....।" "कर्मकाण्ड अनेक प्रकार का है पर इसके दो मुख्य भेद हैं, एक परमार्थ और दूसरा लोक व्यवहार.......।" "तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है। न्यायाचरण उसको कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ कर सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना। इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है।" इसी प्रकरण में महर्षि अन्यत्र लिखते हैं कि "सत्य धर्म के अनुष्ठान जिसको तप कहते हैं वह भी परमेश्वर की प्राप्ति के लिये है तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम के सत्याचरण रूप जो कर्म हैं वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिये हैं।" इसी प्रकरण में महर्षि यह भी लिखते हैं कि 'ज्ञान के साथ कर्म और उपासना प्रभु प्राप्ति का प्रमुख साधन है।"

महर्षि के इन कथनों से स्पष्ट है कि मनुष्य कर्मशील बने, पुरुषार्थी व तपस्वी बने, और सत्याचरण व धर्माचरण से चारों आश्रमों के नियत कर्तव्य कर्मों को ज्ञान के

साथ यथेष्ट रूप से करता रहे। परमार्थ के कार्यों में यथाशक्ति जुटा रहे। लोक व्यवहार में यथोचित शिष्टाचार, शालीनता और सद् व्यवहार का परिचय दे। ब्रह्मचर्य आश्रम में तन्मयता से विद्याध्ययन कर शैक्षणिक ज्ञान प्राप्त करे जिससे भावी जीवन में ज्ञान के साथ सुकर्म कर सके। गृहस्थ आश्रम में पुनः स्वाध्याय, सत्संग से ज्ञान वृद्धि करते हुए सच्चाई, ईमानदारी, नेकनीयती, न्याय और निष्ठा से कर्तव्य करे जिससे अधिकाधिक लोकहित हो। वानप्रस्थ आश्रम में विशेष तप, ध्यान आराधना और संन्यास आश्रम में शिक्षा और सदुपदेश से जन साधारण को सत्याचरण और धर्माचरण की ओर यथोचित मार्ग प्रदर्शित करे। इस प्रकार चारों आश्रमों और वर्णों के निर्धारित कर्त्तव्य कर्मों को तन्मयता से करते रहने पर मनुष्य कर्मकाण्ड के प्रथम भाग का यथेष्ट अनुष्ठान कर पाता है। पर स्वामी जी का यह भी कथन है कि कर्म ज्ञान के साथ हों अन्यथा कर्म विकर्म बन जाते हैं।

कर्म वह हैं जो अन्यों के लिए किये जायें। अकर्म वह हैं जो हम अपने निहित स्वार्थ के लिए अपने ही उदर पोषण और जीवन निर्वाह के लिये करते हैं जैसा कि पशु-पक्षी भी करते ही हैं। ज्ञान के अभाव में किये गये कर्म विकर्म बन जाते हैं जिससे लोक हित की जगह अहित हो जाता है। ज्ञान के साथ परमार्थ के लिये किये गए कर्म सुकर्म बनते हैं, जिनके करने से मन में उल्लास और उमंग उठती है और आत्मा का उत्थान होता है। ज्ञान के अभाव में किये गये कर्म किस हद तक विकर्म बन जाते हैं इसका अनुमान निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो सकेगा।

एक किसान अपने ऊँट को लेकर गाँव के वैद्य जी के पास गया। ऊँट के गले में रात ही रात में एक बड़ी सी गांठ उठ गई थी। वैद्य जी से उपचार करने की विनती की। वैद्य जी

ने रात ही रात में इतनी बड़ी गांठ उठ जाने का वृत्त सुन सोचा कि हो न हो ऊंट कुछ ऐसी वस्तु खा गया है जो लसके गले में अटक गई है । उन्होंने किसान से पूछा कि "इसे रात को क्या खिलाया था ।" किसान बोला कि "रात यह खरबूजों के खेत में चर रहा था ।" वैद्य जी तुरन्त समझ गये कि खरबूजा इसके गले में फँस गया है अतः उन्होंने ऊंट के गले पर जोर से मुक्का मारा जिससे खरबूजा फूट गया और वह पेट में उतर गया । गांठ तुरन्त बैठ गई । वैद्य जी के यहाँ उन्हीं दिनों एक नया शिष्य काम सीखने आया हुआ था । गले की गांठ का प्रत्यक्ष देखा इतना सरल और सफल उपचार उसने हृदयाङ्कित कर लिया । कुछ दिनों बाद एक महिला जिसके गले में थाइरोइड की गांठ हो गई थी वैद्य जी के यहाँ इलाज के लिये लाई गई । वैद्य जी कार्यवश कहीं बाहर गये हुए थे । अतः शिष्य ने कहा "वैद्य जी नहीं हैं तो क्या हुआ, मैं अभी इसका इलाज किये देता हूँ । मैंने ऐसे रोग का इलाज वैद्य जी से खूब अच्छी तरह सीखा हुआ है" । उसने महिला को तख्त पर लिटाया और गले की गांठ पर जोर से मुक्का दिया । मुक्का लगते ही बिचारी महिला का दम घुट कर प्राणान्त हो गया । अब बताइये शिष्य के इस ज्ञान-हीन कर्म से हित की जगह कितना अहित हो गया । बिचारे को लेने के देने पड़ गये । यह है ज्ञान हीन कर्म का फल—जिससे कर्म विकर्म बन जाता है । अस्तु ।

कर्म का दायित्व एक गृहस्थी पर विशेष रूप से अधिक पड़ता है । उसे गृहस्थ की सारी जिम्मेदारियाँ निभानी पड़ती हैं । और इसके लिये उसे समुचित साधन भी जुटाने पड़ते हैं । साधन जुटाने के लिये उसे कार्यरत रहना पड़ता है । नौकरी, व्यापार, व्यवसाय, कृषि, उद्योग या अन्य किसी भी काम धन्धे

में लगकर धन उपार्जित करना होता है, पर इन सभी क्षेत्रों में यदि वह कर्त्तव्य-परायणता और परमार्थ की भावना से अपने निहित स्वार्थ को लक्षित न करते हुए कार्य करता है तो उसे अपने स्वयं की हित सिद्धि के साथ-साथ लोक हित सिद्धि का अतुल श्रेय भी मिलता है । कृषि के क्षेत्र में केवल अपनी ही आवश्यकता का उत्पादन न कर पूर्ण पुरुषार्थ से अधिक अन्न उपजाता है तो निश्चय ही वह अन्य लोगों की आवश्यकताओं को पूरी करके परोपकार का कार्य करता है । उद्योग व्यवसाय या व्यापार में कार्यरत व्यक्ति यदि तन्मयता से अपने निर्धारित कार्यों को सच्चाई, ईमानदारी, और कर्मठता से करता है तो वह अपने हित के साथ अपार जनहित और राष्ट्रहित करने का श्रेय भागी बनता है । नौकरी के क्षेत्र में भी 'दाम का सा काम' की भावना को तिरस्कृत कर पूर्ण लगन और निष्ठा से अपने कार्य को कर्त्तव्य बुद्धि से करे तो वह अधिक से अधिक जन कल्याण के लिये की गई सेवा साधना का श्रेय ले पाता है ।

मान लीजिये कि दो शिक्षक एक ही स्कूल में सम वेतन पर शिक्षण कार्य में लगे हुए हैं, उनमें से एक अपने शिक्षण कार्य को कर्त्तव्य समझ कर करता है, समाज और राष्ट्रहित में नवयुवकों का मार्ग प्रदर्शन करता है, बड़े प्रेम और प्रीति से विद्यादान देता है, और छात्रों का चरित्र निर्माण कर उन्हें देश के सुशिक्षित और सदाचारी नागरिक बनाने का श्रेय लेता है, पर दूसरा शिक्षक केवल अपने वेतन ही को महत्व देता है; वेतन के लिये ही अध्यापन या नौकरी करता है, शिक्षण कार्य में कोई रुचि नहीं लेता, नौकरी के घण्टे गिन-गिन कर पूरे करता है, थोड़ा सा भी अधिक समय यदि विविध कार्यक्रमों के लिये देना पड़े तो कुढ़ता है और सदा अपने वेतन वृद्धि या

पदोन्नति के लिए ही जोड़-तोड़ करता है तो निश्चय ही वह अपने कर्त्तव्य से विमुख ही होता है। पहला शिक्षक जहाँ परमार्थ की दृष्टि से अपना कर्त्तव्य निभाता है वहाँ दूसरा केवल अपनी निहित स्वार्थ सिद्धि ही करता है । पहले का कर्म सेवा है दूसरे का स्वार्थ जबकि वेतन दोनों को समान ही मिलता है। यहां पहले का कार्य ही स्वयं में उपासना की सर्वोत्तम विधि है।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति चाहे जिस किसी भी क्षेत्र में कार्यरत हो वह अपने कर्त्तव्य कर्म को 'स्वधर्म' या प्रभु-पूजा समझकर सम्पादित करें, और कामचोरी, बदनीयती, धोखा-धड़ी, काला बाजारी, बेईमानी तथा व्यर्थ में हड़ताल, घेराव, कामबन्द कलम बन्द और तालाबन्दी जैसी असामाजिक प्रवृत्तियों को जनता, देश व राष्ट्रहित में सर्वथा त्याज्य माने तभी वह कर्मकाण्ड के इस प्रथम व प्रमुख भाग को सही अर्थ में पूर्ण कर पाता है।

निस्वार्थ भाव से किये ऐसे कर्म निष्काम कर्म बनते हैं जो प्रभु कृपा प्राप्त कराते हैं और ईश्वरोपासना का रूप धारण कर पाते हैं । प्रभु का आदेश भी यही है "त्यक्तेन भुञ्जीथाः" की भावना से मनुष्य निष्काम कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे अर्थात् जब तक जिये निष्काम कर्म करता हुआ ही जिये। पवित्र यजुर्वेद इस ओर हमारा स्पष्ट मार्ग दर्शन करता है:—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
—यजु० ४०-२॥

अर्थात् (इह) इस संसार में मनुष्य (कर्माणि) वेद विहित निष्काम कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ ही (शतं समाः) सौ वर्षों तक (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे ।

(नरे) हे कर्मशील पुरुष ! (एवम्) इस प्रकार (त्वयि) तुझ में (कर्म न लिप्यते) कर्म लिप्त नहीं होंगे । अर्थात् कर्म तेरे लिये बन्धन नहीं होंगे । (इतः अन्यथा) इससे अन्य कोई दूसरा मार्ग (न अस्ति) नहीं है ।

वेद मन्त्र स्पष्ट आदेश देता है कि मनुष्य कर्मशील बने, सौ वर्ष तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे पर वह कर्म निष्काम भाव से करे, फलाशा की इच्छा से न करे, अन्यथा यह कर्म उसके लिये बन्धन बन जाते हैं। सन्तान का लालन-पालन करना माता-पिता का कर्त्तव्य है, जिसे उन्हें पूरा करना ही होता है; पर यदि इसके पीछे उनकी केवल यही कामना रहे कि लड़का जल्दी से जल्दी कमाने योग्य होकर अर्थोपार्जन में उनका हाथ बंटावे तो यह कामना आसक्ति का रूप लेती है और यदि लड़का उनकी कामनाओं की पूर्ति करने में असमर्थ रहता है तो उन्हें अपनी इच्छाओं का गला घुटता प्रतीत होता है।

अब निष्काम कर्म का एक उदाहरण देखें—

स्वामी श्री विरजानन्द जी महाराज ने स्वामी दयानन्द जी को जब विद्यादान देना स्वीकार किया तो उसमें उनकी कौनसी स्वार्थ भावना निहित थी ? क्या वह अपने स्वयं के हित का या कोई भारी दक्षिणा की अभिलाषा रखते थे ? नहीं। उन्होंने तो निष्काम भाव से ही यह कर्त्तव्य किया और स्वामी जी को महर्षि कहलाने योग्य बनाया । विद्याध्ययन की समाप्ति पर महर्षि ने कुछ लौंग दक्षिणा रूप गुरु जी को भेंट कर जब निवेदन किया कि "भगवन् ! मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो आपकी भेंट कर सकूँ, केवल यह लौंग हैं जिन्हें श्रीचरणों में समर्पित करता हूँ" तब गुरु विरजानन्द जी ने क्या कहा ? गुरु बोले "वत्स ! मैं आपके लिये मंगल कामना करता हूँ; ईश्वर आपकी विद्या को सफलता प्रदान करें । परन्तु गुरु-

दक्षिणा में मैं इन लौगों से भिन्न वस्तु चाहता हूँ जो आपके पास है। भारत देश में दीन-हीन जन अनेक विध दुःख पा रहे हैं, जाओ उनका उद्धार करो। मत-मतान्तर के कारण जो कुरीतियाँ उत्पन्न हो गई है उनका निवारण करो। आर्य जनता की बिगड़ी दशा को सुधारो और आर्य सन्तान का उपकार करो। लोक हित कामना से क्रियात्मक जीवन बिताओ। प्रिय पुत्र ! गुरु दक्षिणा में मुझे यही वस्तु दान करो। अन्य किसी सांसारिक पदार्थ की मुझे चाह नहीं है"। यह थी गुरुदेव स्वामी विरजानन्द जी की निष्काम भावना और जन कल्याण की दिव्य कामना ! महर्षि ने भी गुरु आदेश का पालन कर जिस अद्वितीय और विलक्षण निष्ठा से गुरु दक्षिणा चुकाई यह सब विदित है।

आप दान देते हैं, धर्मशाला, स्कूल, कालेज या अस्पताल बनवाते हैं, छात्र वृत्तियाँ देते हैं, पर इनके पीछे अपने नाम और सम्मान की भावना नहीं रखते या किसी भी प्रकार के प्रतिफल की कामना नहीं रखते तब यह कर्म निष्काम कर्म बनते हैं। अकाल, दुर्भिक्ष, बाढ़ या दावानल से पीड़ित व्यक्तियों की यथासम्भव सहायता करते हैं, भूले भटके को सन्मार्ग दिखाते हैं, अनाथ व अबलाओं की सहायता करते हैं, निर्बल और निस्सहाय की रक्षा करते हैं, रोगी की सेवा करते हैं, निराश्रितों को आश्रय देते हैं, पड़ौस में अकेले रहने वाली अशक्त या वृद्ध व्यक्ति की सार सम्भाल करते हैं, उनको बाजार से आवश्यक वस्तुयें या सौदा आदि ला देते हैं पर इन कर्त्तव्य कर्मों में किसी भी प्रकार की फलाशा या, प्रतिफल की इच्छा नहीं रखते तो यह कर्म निष्काम कर्म बनते हैं।

अपने-अपने क्षेत्र में वर्ण और आश्रम के निर्धारित कर्म

जब हम कर्त्तव्य समझकर निष्काम भाव से करते हैं तब वह सात्विक कर्म बनते हैं जो हमें प्रभु का कृपा पात्र बनाते हैं और ईश्वरोपासना की सिद्धि प्राप्त कराते हैं। योगिराज श्री कृष्ण ने इस तथ्य को गीता के अठारहवें अध्याय में बड़े ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है :—

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते॥

—गीता अ. १८-२३

(नियतम्) अपने वर्ण और आश्रम के नियत (यत् कर्म) जो कर्म हैं (अराग द्वेषतः) उन्हें राग और द्वेष के बिना (संग-रहितम्) आसक्ति से रहित (अफल प्रेप्सुना) फल की इच्छा न करके किया जाय तो यह (सात्विकम् उच्यते) सात्विक कर्म कहाते हैं।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदम् ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः॥

—गीता १८-४६

(यतः भूतानाम् प्रवृत्तिः) जिससे प्राणी मात्र की उत्पत्ति हुई है और जिसने (येन इदम् सर्वम् ततम्) इस सारे जगत का विस्तार किया है अर्थात् सब जग को रचा है उसकी (तम् स्व कर्मणा अभि-अर्च्य) अपने स्वधर्म-निष्काम कर्मों से अर्चना अर्थात् अपने सत्कर्मों के द्वारा इस परम पिता परमात्मा की पूजा आराधना व अर्चना करके ही (मानवाः सिद्धिम् विन्दति) मानव उपासना-सिद्धि को प्राप्त करता है।

प्रकट है कि मानव फलाशा को छोड़ अपने वर्ण और आश्रम के नियत कर्त्तव्य कर्मों का निष्काम भाव से सत्याचरण और न्यायाचरण के साथ ईश्वर प्रणिधान पूर्वक यथावत्

अनुष्ठान करे तो वह उपासना भी एक श्रेष्ठतम विधि का सम्पादन करता है।

यज्ञमय जीवन

कर्मकाण्ड का दूसरा भाग है— यज्ञ । वैदिक संस्कृति में अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध यज्ञ तक के सभी यज्ञों को 'कर्मकाण्ड' या श्रेष्ठतम कर्म बताया है। चूंकि यज्ञ से प्राणिमात्र का विशिष्ट उपकार होता है और यह कर्म नितान्त निस्वार्थ भाव से किया जाता है। अतः निष्काम कर्म की श्रेणी में इसका सर्वोपरि स्थान सर्वथा उचित ही है। वैदिक विधान के अनुसार मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही यज्ञमय बताया है और पञ्चमहायज्ञ को उसके जीवन का अभिन्न अङ्ग निर्धारित किया गया है। महर्षि दयानन्द जी सरस्वती ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के 'वेद विषय विचार'' प्रकरण में लिखते हैं कि—"जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है और संस्कार किये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान मनुष्य है वह भी आनन्द को प्राप्त होता है, क्योंकि जो मनुष्य जितना उपकार करेगा उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा।"

कर्मकाण्ड का वर्गीकरण (१) नित्य (२) नैमित्तिक और काम्य कर्म है। नित्य कर्म में पञ्चमहायज्ञ का विधान है। (१) **देवयज्ञ**—अग्निहोत्र (२) **पितृयज्ञ**—माता-पिता, आचार्य और पूजनीय वृद्धवृन्द की सेवा सुश्रूषा (३) **अतिथि यज्ञ**--विद्वान् महापुरुष जो परोपकार के निमित्त सदा भ्रमण करते हुए कभी भी किसी गृहस्थ में बिना पूर्व सूचना के पदार्पण करें उनका आदर सत्कार और सेवा (४) **बलिवैश्वदेव यज्ञ**—हमारे आश्रित प्राणी जो शायद स्वयं अपना पालन न कर सकें उनकी भोजन आदि से सेवा और पशु-पक्षियों तक के प्रति सद्भावना और (५) ब्रह्मयज्ञ--सन्ध्योपासना। देवयज्ञ और बलिवैश्व देव यज्ञ

से जहाँ हम प्राणिमात्र के उपकारार्थ कर्म करते हैं वहाँ पितृयज्ञ और अतिथि यज्ञ से हम पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्र में अपनी स्वधर्म-मर्यादा का पालन करते हैं।

नैमित्तिक कर्म से हम पर्वों व उत्सवों पर विशेष यज्ञ करते हैं और काम्य कर्म के अन्तर्गत वह बृहद् यज्ञ आते हैं जो किसी कामना विशेष से किये जाते हैं, जैसे अनावृष्टि के समय वर्षा की कामना के लिए और महामारी के समय हानिकारक कीटाणुओं के नाश से वायु-शुद्धि और जन-स्वास्थ्य वृद्धि के लिये। प्राचीन काल में राजेमहाराजे पुत्रेष्टि, राजसूय व अश्वमेधादि यज्ञ, प्रजा के कल्याण के लिए, किया करते थे ताकि पराक्रमी पुत्र राजा का उत्तराधिकारी बन प्रजा का पालन कर सके और राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञादि से राज्य की समुचित शासन व्यवस्था से प्रजा का अधिक से अधिक हित हो सके।

यज्ञ में डाली जाने वाली आहुतियाँ पौष्टिक, सुगन्धित, रोगनाशक व मिष्टगुण युक्त द्रव्यों की होती हैं जो अग्नि में पड़कर सूक्ष्म परमाणु रूप धारण कर लेती हैं और वायु मण्डल में फैल जाती हैं। इससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि होती है और रोगोत्पादक कीटाणुओं का नाश होता है। शुद्ध वायु से प्राणिमात्र को शुद्ध श्वास उपलब्ध होते हैं, जिससे रक्त की प्रचुर शुद्धि होती है और सभी अवयवों को वाञ्छित जीवन शक्ति (Vitality) प्राप्त होती है। शुद्ध वृष्टि जल से वनस्पति, औषधि और अन्न शुद्ध एवं पुष्टिकारक होते हैं जिससे शारीरिक शक्ति और क्षमता बढ़ती है और सुस्वास्थ्य बनता है।

महर्षि दयानन्द शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण देते हुए "वेद विषय विचार" प्रकरण में लिखते हैं कि "जो होम के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं उनसे धुँआ और भाप उत्पन्न होते हैं,

क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उनको छिन्न-भिन्न कर देता है, फिर वह हल्के होकर वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं। उनमें जितना जल का अंश है वह भाप कहाता है और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है, इन दोनों के योग का नाम धूम है। यह परमाणु मेघ-मण्डल में वायु के आधार से रहते हैं। फिर वे परस्पर मिल के बादल हो के उनसे वृष्टि वृष्टि से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातु से शरीर और शरीर से कर्म बनते हैं।"

अतः स्पष्ट है कि केवल देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र से प्राणिमात्र का जब इतना अकथनीय उपकार हो पाता है तब अन्य अनेकानेक यज्ञों से संसार का कितना उपकार हो सकेगा, यह केवल समझने ही की बात है। प्राचीन काल में जब अग्निहोत्रादि नित्य, नैमित्तिक या काम्य कर्म नियमित होते थे तब आर्यावर्त्त देश सुखी व सम्पन्न था। यहाँ के निवासी निरोग स्वस्थ, हृष्टपुष्ट और अधिक बलिष्ठ थे। हर व्यक्ति समृद्ध व सुखी था। दूध-घी की नदियाँ बहती थीं। आज भी यदि हर परिवार में नियमित रूप से अग्निहोत्रादि यज्ञ होने लगें और हम संयम से अपना जीवन व्यतीत करने लगें तो भारत में फिर से घी-दूध की नदियाँ बहने लगें। पितृ-यज्ञ के रूप में माता-पिता और गुरुजनों की सश्रद्ध सेवा साधना अतिथि यज्ञ द्वारा विद्वान् ब्राह्मणों, संन्यासी महात्मा और लोकोपकारक समाज सेवकों का सश्रद्ध आतिथ्य एवं बलिवैश्व से मानवमात्र ही नहीं प्राणिमात्र की हित साधना—ये सभी ईश्वरोपासना की व्यावहारिक विधियाँ हैं।

ब्रह्मयज्ञ—अर्थात् सन्ध्योपासना से हम ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना करते हैं। ब्रह्मयज्ञ से हम अपना आत्मिक उत्थान करते हैं, प्रभु में आस्था, विश्वास और श्रद्धा पैदा

करते हैं, प्रभु का आश्रय प्राप्त करते हैं, निर्भय और निरभिमानी बनते हैं, दुःखों का पहाड़ टूट पड़ने पर भी धैर्य और आत्म-विश्वास से उनका सामना करने में समर्थ होते हैं, सत्य और न्याय के मार्ग का अनुसरण कर अपने जीवन को उन्नत बना पाते हैं।

ईश्वर स्तुति में हम प्रभु के गुणों का चिन्तन व मनन करते हैं और उन्हें अपने अन्दर धारण करने का यथाशक्ति यत्न करते हैं। प्रभु के गुण कर्म स्वभाव के सदृश अपने गुण कर्म स्वभाव को उत्तम और पवित्र बनाने की प्रेरणा पाते हैं।

प्रार्थना से हम इसी प्रेरणा को क्रियान्वित करने के लिए प्रयत्नशील होने के साथ-साथ प्रभु से सहाय की अनुनय-विनय करते हैं और उपासना से हम प्रभु के समीपस्थ होने, प्रभु के दर्शन करने और प्रभुमय होने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं।

उपासना का स्थान

ईश स्तुति प्रार्थना और उपासना के लिए हमें एकान्त शान्त स्थान और एकाग्रचित्तता की आवश्यकता होती है। स्वच्छ शान्त और एकान्त स्थान के लिए यथासम्भव निकटवर्ती नदी, झरना, सरोवर, तालाब, कुण्ड, सुन्दर वाटिका या अन्य कोई रमणीक स्थान प्राप्त हो तो अति ही उत्तम रहता है ※ अन्यथा घर ही में एकान्त स्वच्छ स्थान नियत कर लेना उपयुक्त होता है। स्वच्छ और शान्त स्थान में मन को शान्ति मिलती है और उसकी चपलता बहुत कुछ दूर हो जाती है। स्थान की उपयुक्तता के साथ-साथ शरीर की शुद्धता और पवित्रता भी मन की शान्ति के लिए इतनी ही आवश्यक होती है।

※अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः।
सावित्री मप्य धीयत गत्वारण्यं समाहितः। (मनु० २।१०४)

अतः प्रातः सायं शौच स्नानादि से निवृत्त हो, स्वच्छ वस्त्र धारण कर, हमें ईश स्तुति, प्रार्थना और उपासना के लिये बैठना होता है और अष्टाङ्ग योग के शेष बचे ६ अङ्गों का यथाशक्ति पालन करना होता है। अष्टाङ्ग योग के प्रथम दो अङ्गों पर अर्थात् यम और नियम पर पूर्व में सम्यक् विचार किया जा चुका है। शेष ६ अङ्ग हैं आसन, प्राणायाम प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि। यहाँ हम महर्षि पतञ्जलि निर्दिष्ट उपासना विधि के इन महत्वपूर्ण अङ्गों पर क्रमशः संक्षेप में विचार करेंगे।

आसन--से हम शरीर और आत्मा को स्थिर करते हैं। योग की दृष्टि से तो वैसे आसन कई प्रकार के होते हैं पर उपासना के लिये कोई भी आसन, जिसमें शरीर को सुखपूर्वक स्थिर किया जा सके, उपयुक्त होता है। महर्षि पतञ्जलि कृत योग दर्शन में लिखा है कि "स्थिरसुखमासनम्" अर्थात् जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो उसको आसन कहते हैं। जैसी रुचि हो वैसा ही आसन लगा लें चाहे वह सीधी सी पालथी मार कर बैठने का हो, सिद्धासन हो, पद्मासन हो, या अन्य कोई भी आसन। महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि "जब आसन दृढ़ होता है तो उपासना में अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता और सर्दी गर्मी भी अधिक बाधा नहीं करती"।

प्राणायाम-प्राण वायु का नियमन करना प्राणायाम कहलाता है। मन की एकाग्रता और चित्त की निर्मलता व स्थिरता के लिये प्राणायाम अति ही लाभदायक होता है। प्राणायाम में हम पहले प्रश्वास को भीतर से बाहर निकालकर जितना सुखपूर्वक रोक सकें, रोकें, फिर श्वास को बाहर से भीतर लेकर उसी प्रकार रोकें और साथ ही साथ 'ओ३म्' का मन ही मन जाप करते रहें। अभ्यास से प्राणायाम की अवधि

को निरन्तर बढ़ाया जा सकता है। रेचक, पूरक, कुम्भक, स्तम्भ वृत्ति आदि प्राणायाम की अलग-अलग प्रक्रियायें हैं, जो अनुभवी योग विद्या में प्रवीण महानुभावों से सीखी जा सकती हैं। पर साधारण स्तुति प्रार्थना और उपासना के समय मन की एकाग्रता के लिये यदि केवल श्वास-प्रश्वास के नियमन का ही अभ्यास किया जा सके तो यह ही पर्याप्त और लाभदायक सिद्ध होता है। प्राणायाम से फेफड़ों की सभी कोशिकायें खुल जाती हैं जो साधारण श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया में नहीं खुलतीं। इससे रक्त को अधिक आक्सीजन मिल पाता है, जिससे शरीर की पुष्टि होती है, बुद्धि, बल, तेज और यश बढ़ता है। ठीक ही तो कहा है 'प्राणायामात् पुष्टगात्रस्य बुद्धितेजो यशोबलम्'। जब बुद्धि प्रखर होती है तो ज्ञान प्रकाश का आवरण भी क्षीण हो जाता है "ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्"—(योग. द. साधनपाद—सूत्र ५२.)

साधारण व्यक्ति के लिये स्तुति और प्रार्थना करने हेतु उपर्युक्त आसन और प्राणायाम ही काफी होता है पर उपासना सिद्धि के लिये साधक को और आगे बढ़ना होता है। अष्टाङ्ग योग के अगले अङ्गों का भी सरलतापूर्वक अभ्यास करना होता है। यह अङ्ग हैं—प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि।

प्रत्याहार-योग दर्शन में साधन पाद के सूत्र ५४ में प्रत्याहार का वर्णन किया है 'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणाँ प्रत्याहारः"। प्रत्याहार का साधारण सा अर्थ है इन्द्रियों को अधिकार में कर लेना, उन पर विजय पा लेना, इन्द्रियों को अपने बाहरी विषयों से हटाकर चित्त के स्वरूप में स्थिर कर लेना अर्थात् इस प्रकार समेट कर अपने वश में कर लेना जैसे कछुआ अपने हाथ, पैर, गर्दन अपने अन्दर सिकोड़ लेता है। प्रत्याहार के लिये महर्षि दयानन्द लिखते हैं

कि 'जब मनुष्य अपने मन को जीत लेता है तब इन्द्रियों को जीतना अपने आप हो जाता है क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलाने वाला है। तब मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहाँ मन को ठहराना या चलाना चाहता है उसी में ठहरा व चला सकता है।

धारणा—"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" (योग. द. विभूतिपाद. सू. १.) मन की चंचलता को मिटाकर उसे एकाग्र व वश में करके चित्त को किसी स्थान पर (देश) या वस्तु में लगाने या बाँध देने को धारणा कहते हैं। यहाँ देश से तात्पर्य है शरीर के किसी भी स्थान में जैसे नाभि, हृदय, भृकुटि या नासिका आदि।

ध्यान—"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (योग. द. विभूतिपाद. सू. २) ध्यान के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि "धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ, इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच नदी प्रवेश करती है। उस समय ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाने का नाम ही ध्यान है।"

धारणा के साथ जब हम ध्यान को भृकुटि पर लगाते हैं तब हमें एक अद्भुत प्रकाश दिखाई देने लगता है जो बिन्दुरूप या उससे बड़ा गोलाकार या अण्डाकार के रूप में दिखाई देने लगता है। कभी-कभी विभिन्न आकार और विचित्र प्रकार का प्रकाश दिखाई देता है। इसे निरन्तर अभ्यास से स्थिर किया जा सकता है। कुछ समय स्थिर रहने पर इसमें अति ही सुन्दर और रमणीक दृश्य दिखाई देने लगते हैं, जिसका वर्णन लेखनी

के बाहर है। इसका अनुभव तो ध्यानावस्थित सज्जन स्वयं ही कर पाते है। उस समय हमारा मन प्रभु की विचित्र लीला में ऐसा लीन हो जाता है कि हम अपने आपको भला हुआ सा अनुभव करने लगते हैं। उस अवस्था में हम समाधि की ओर अग्रसर होने की स्थिति में पहुँच पाते हैं।

समाधिः— तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः (योग० द० वि० पा० ३)

(स्वरूपशून्यं इव) अपने स्वरूप से शून्य अर्थात् शरीर को भूल के (अर्थमात्रनिर्भासं) केवल ध्येयरूप से प्रतीत होने वाले (तत् एव) उक्त ध्यान का नाम ही (समाधिः) समाधि है। महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि "अष्टाङ्ग योग के पूर्व के सात अङ्गों का फल ही समाधि है। जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय हो के अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जान के आत्मा को परमेश्वर के प्रकाश-स्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं।" स्वामी जी आगे लिखते हैं कि "जिस देश में धारणा की जाय, उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को 'संयम' कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है, अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान, और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है, उसमें बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है। परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है।"

जैसा कि अब तक हमने विचार किया, यम नियम से हम उपासना योग का बीज बोते हैं, कर्मकाण्ड के अनुष्ठान से उसको सींचते हैं और अष्टाँग योग के शेष छः अंगों की साधना से उपासना के अभीष्ट फल को प्राप्त कर पाते हैं।

ईश स्तुति, प्रार्थना:—ईश्वर स्तुति और प्रार्थना, उपासना विधि का अभिन्न अङ्ग हैं और उपासना के अन्तिम सोपान तक पहुँचने के लिए प्राथमिक सोपान भी। यहाँ हम इन पर संक्षेपतः विचार करेंगे।

स्तुति और प्रार्थना प्रातः और सायं दोनों समय करना उपयुक्त है। शौच स्नानादि से शरीर की बाह्य पवित्रता के बाद स्वच्छ शान्त एकान्त स्थान में उपयुक्त आसन जमा, प्राणायाम से मन की चंचलता को दूर कर उसे प्रभु के गुणगान में तल्लीन करना 'स्तुति' है। सृष्टि की छटा का अवलोकन कर हम प्रभु की महान् सत्ता, सर्वशक्तिमत्ता, अद्भुत लीला, कारीगरी, और शिल्पकारी का बोध कर पाते हैं और प्रभु के गुणों का चिन्तन और मनन करने से मन को एकाग्र कर पाते हैं।

प्रार्थना संकल्प का पर्याय है। प्रभु के गुणों के चिन्तन से जब उनमें श्रद्धा उत्पन्न हो तो पूर्ण पुरुषार्थ से उन सद्गुणों को धारण करने का संकल्प और तदर्थ प्रभु से सहायता की उत्कट कामना 'प्रार्थना' है, सद्गुण धारण के लिये हमारी प्रार्थना में ऐसी ही उत्कण्ठा हो, जैसी दूध के लिये रोते हुए बालक की माँ में। माँ तब स्तन-पान करायेगी। इस उत्कण्ठा और मन की एकाग्रता के लिए जहाँ शान्त और नीरव वातावरणकी आवश्यकता होती है वहाँ इन्द्रियों को बाहरी विषयों से समेटने की भी आवश्यकता होती है। अतः मन्दिरों के शंख, घण्टे, घड़ियाल और झंझावात की झंकारों में और वहाँ के जन-समूह की धक्कमपेल में मन की एकाग्रता के अभाव में ईश्वर स्तवन नहीं हो सकता।

भ्रान्ति निवारण

हमारे बहुत से भाई मन्दिरों की मूर्तियों में ही मन की एकाग्रता का एक मात्र सहारा ढूँढ़ते हैं और कहते हैं कि प्रभु

जब दिखाई नहीं देता तो उसमें मन लगायें कैसे? मन लगाने के लिए कोई साधन तो होना चाहिए। मूर्ति के समक्ष जब खड़े होते हैं तो अनायास ही प्रभु में आस्था और श्रद्धा पैदा हो जाती है और मन स्वतः ही प्रभु की आराधना में तन्मय हो जाता है। साथ ही साथ उनका यह भी कहना है कि जब प्रभु सर्वज्ञ है तो वह मूर्ति में भी है अत उसमें प्रभु की भावना रखकर स्तुति-प्रार्थना करने में हर्ज ही क्या है? उनसे हमारा यही निवेदन है कि हर्ज तो इतना ही है जितना कि अन्धेरी रात में नदी पार करने के लिए नाव में बैठ चप्पू चलाना तो शुरू कर दिया पर नाव को खूँटे से खोलना भूल गये। रात भर चप्पू चलाते रहे पर नदी पार कर न पाये, जहाँ थे वहीं बैठे रहे। चप्पू चलाने का परिश्रम व्यर्थ हो गया। अज्ञान और अन्ध विश्वास के अन्धेरे में चेतन प्रभु को पाने की अभिलाषा में मूर्ति के खूँटे से बन्धकर आराधना के चप्पू चलाते रहिये, प्रभु दर्शन कभी होंगे नहीं। फिर यह कैसी विडम्बना कि जिस प्रभु ने मनुष्य को बनाया वही मनुष्य उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभु को बनावे और उसे मन्दिर में बन्द करके बैठा देने का दुस्साहस करे!

अब रही भावना की बात। महर्षि लिखते हैं कि 'जो जैसा है उसको वैसा ही मानना भावना कहलाती है।'' पर यदि हम सर्वज्ञ प्रभु को एक देशीय या एक नियत स्थान पर निराश्रित मूर्ति में बैठा देखें तो प्रभु के सर्वशक्तिमत्यादि गुणों की सही और यथार्थ भावना कर ही कैसे सकते हैं? महर्षि बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि ''जड़ मूर्ति में चेतन प्रभु की भावना करना ठीक वैसा ही है जैसे लोहे में सोना, काँच में हीरा, मिट्टी में मैदा, छाछ में दूध, या नमक में शक्कर की भावना करना ...।'' सच तो यह है कि हमारे पौराणिक पण्डितों और तथाकथित धर्म के ठेकेदारों ने अपने निहित स्वार्थ वश भारत

की भोली भाली हिन्दू जनता की भावनाओं को छला है। एक ईश्वर की जगह ईश्वर के विभिन्न नामों के आधार पर अनेक ईश्वर नियत कर उनकी मूर्तियाँ घड़ दी, राम कृष्ण गौतम और अनेकानेक तीर्थङ्कर कहलाने वाले महापुरुषों को साक्षात ईश्वर या ईश्वर का अवतार बता दिया, अनेकानेक मत मतान्तर फैला दिये यहाँ तक कि आर्य धर्म शास्त्रों में भी अनेकों जोड़-तोड़ करके ऐसी मिलावट कर दी कि बुद्धिजीवी जनता भी भ्रम जाल में फँसे बिना नहीं रह सकी। गीता ही को लीजिये जो कर्मयोग पर योगिराज श्री कृष्ण के उपदेशों का अद्वितीय ग्रन्थ है। उसमें भी अनेकानेक मन घड़न्त श्लोक बाद में जोड़ दिये गये, केवल इसी अभिप्राय से कि श्रीकृष्ण के पुजारी उन्हें साक्षात भगवान् घोषित कर पायें और अपना निहित स्वार्थ सिद्ध कर सकें।* उदाहरण के लिए यहाँ गीता के अष्टादश अध्याय का ६६ वाँ श्लोक प्रस्तुत है :—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

अर्थात् (महामान्य तिलक जी के किये गये अर्थ के अनुसार) "सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी शरण ही में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, डर मत।" यह श्लोक श्री कृष्ण जी को साक्षात् ईश्वर साबित करता है जब कि स्वयं श्री कृष्ण ने इसी अध्याय के ६१ व ६२ वें श्लोकों में कहा है कि :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

---

* गीता के ७०० श्लोकों में से लगभग आधे ऐसे ही प्रक्षिप्त श्लोक है जो बाद में जोड़े गये हैं जैसा कि सत्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'शुद्ध गीता' में दर्शाया है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।६२

अर्थात् (तिलक जी ही के अनुसार) 'हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहकर (अपनी) माया से प्राणीमात्र को (ऐसे) घुमा रहा है मानो सभी (किसी) यन्त्र पर चढ़ाये गये हों (६१) इसलिए हे भारत ! तू सर्व भाव से उसी की शरण में जा। उसके अनुग्रह से परम शान्ति और नित्य स्थान प्राप्त होगा (६२)। इन श्लोकों में जहाँ स्वयं श्री कृष्ण ने जगत् नियन्ता परम पिता परमेश्वर की शरण में जाने का अर्जुन को उपदेश दिया है वहाँ ६६ वें प्रक्षिप्त श्लोक में जो गीता का असली श्लोक नहीं वरन् बाद में जोड़ा गया है श्री कृष्ण ही को ईश्वर दर्शाया गया है और भाव भी इतने विपरीत प्रकट किये गये हैं कि वे श्री कृष्ण के कर्तव्य कर्म सम्पादन रूप 'स्वधर्म' करने के सिद्धान्त से तनिक भी मेल नहीं खाते। "सब धर्मों (कर्त्तव्य कर्मों) को छोड़कर मेरी शरण में आ जा" ऐसा कथन कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि मनुष्य का निष्काम कर्तव्य कर्म ही उसका धर्म है तो वह इस धर्म को छोड़कर अर्थात् नितान्त कर्त्तव्य शून्य होकर श्री कृष्ण के शरण में चला जाय ऐसा श्री कृष्ण का उपदेश कदापि हो नहीं सकता जब कि श्री कृष्ण का सम्पूर्ण उपदेश तो कर्मयोग ही का है। अतः स्पष्ट है कि हमारे धर्म ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ इसी प्रकार का प्रक्षेप करके धर्म के ठेकेदारों ने स्वार्थ सिद्धि के लिये भोली भाली हिन्दू जनता में भ्रान्त विचार पैदा कर दिये।

लेकिन दुःख इस बात का है कि आज के इस वैज्ञानिक युग में भी हमारे बहुत से शिक्षित भाई भी कुछ ऐसी ही भ्रान्तियों में बद्ध हैं और जड़ मूर्ति में चेतन प्रभु की भावना रखकर अन्ध श्रद्धा और आस्था रखते हैं। वे परीक्षा में पास

होने, नौकरी लगने, स्वास्थ्य लाभ होने, पुत्रोत्पत्ति होने, लॉटरी मिलने या लखपति से करोड़पति बनने की कामना से आज भी मन्दिरों में मनौतो मनाते और मनचाही भेट चढ़ाते हैं, जिससे उनका चाहे कोई भला हो या न हो, मन्दिर के मठाधीशों का तो अवश्य ही स्वार्थ सिद्ध होता है। तो आयें हम इस भ्रान्ति-जाल को चीर प्रभु दर्शन की सत्य वेदोक्त राह पर चलें।

सन्ध्या—सर्वोत्तम उपासना विधि।

उपासना विधि के प्रकरण में वैदिक सन्ध्या अपना अनूठा महत्व रखती है। इसमें योग के आठों अङ्गों का सम्यक् समावेशन है। वैदिक सन्ध्या के कुल १९ मन्त्रों को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम भाग मनुष्य जीवन के लक्ष्य का बोध कराता है —सुख और शान्ति का लक्ष्य। दूसरा भाग मनुष्य के अन्यों के प्रति कर्त्तव्य का बोध कराता है और तीसरा भाग प्रभु के प्रति मनुष्य के कर्त्तव्य का बोध कराता है।

प्रथम भाग में गायत्री, आचमन, इन्द्रिय स्पर्श, मार्जन, प्राणायाम और अघमर्षण मन्त्र आते हैं। गायत्री मन्त्र से प्रभु के प्राणाधार, दुःख हर्ता और सुखदाता होने का स्मरण कर प्रभु से सुख प्राप्ति की कामना करते हैं, सुबुद्धि प्रदान करने की विनय करते हैं, जिससे हम सुकर्म करते हुए सुखी रहें। आचमन मन्त्र से मन की शान्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। इन्द्रिय स्पर्श और मार्जन मन्त्र से इन्द्रिय निग्रह करने और उन्हें बलिष्ठ और यशस्वी बनाने का संकल्प करते हैं। प्राणायाम मन्त्र से प्राणायाम करके मन को वश में करने का प्रयास करते हैं और प्रभु के भूः भुवः स्वः महः आदि गुणों का चिन्तन करते हैं। अघमर्षण मन्त्र से सृष्टि रचना की प्रभु की शक्ति का बोध कर हम प्रभु के प्रति आस्था, श्रद्धा और विश्वास की ज्योति जगाते हैं, आत्मबल बढ़ाते हैं, अहंकार और अभिमान का त्याग करने का संकल्प करते हैं और प्रभु के सहाय की विनती करते हैं।

द्वितीय भाग में मनसा परिक्रमा के मन्त्रों से हम बुद्धि और मन की परिक्रमा से अपने आप का परीक्षण करते हैं, प्रभु को सभी दिशाओं में सर्वव्यापी समझ उसकी देख-रेख में पवित्र कर्म करने का संकल्प करते हैं, पुरुषार्थ से निष्काम कर्म करते हुए जन कल्याणार्थ कार्य करने का व्रत लेते हैं और प्रत्येक मन्त्र में वह उठते हैं 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विषमस्तं वो जम्भे दध्मः" अर्थात् स्वधर्म—निष्काम कर्त्तव्य कर्म के अनुष्ठान में यदि कोई हमसे द्वेष करता है या हम किसी से द्वेष करने लगें तो हे प्रभु ! हम अपने आप को आपके न्याय पर छोड़ते हैं। आप हमारी द्वेष भावना ही को समाप्त कर दें ताकि न हम किसी से द्वेष कर सकें और न ही हमसे कोई द्वेष करे। जब यह भावना उत्पन्न हो जाती है तब आपसी झगड़े शान्त हो परस्पर प्रीति का स्रोत बहने लगता है।

तृतीय भाग में उपस्थान मन्त्रों से हम प्रभु के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाते हैं। प्रभु के एक-एक गुण का चिन्तन और मनन करते हुए सौ या उससे भी अधिक वर्षों तक जीते रहने की कामना करते हैं और सत्कर्म करते हुए प्रभ चरणों में समर्पित होने की अभिलाषा करते हैं और कह उठते हैं कि "ओ३म् नमः शम्भवाय च मयोभवाय च" इत्यादि। अर्थात् शान्त-स्वरूप, आनन्द स्वरूप, कल्याणकारी प्रभु आपको नमस्कार है।

स्तुति और प्रार्थना करते २ उपासक को अब और आगे बढ़ना है। अब उसे प्रभु के उप-स्थान होना है। इसके लिए पूर्ण ध्यानावस्थित हो इन्द्रियों को बाहरी विषयों से समेट कर मन को धारणा और ध्यान से भृकुटि, हृदय, नाभि या नासिकादि किसी भी देश में केन्द्रित करने का अभ्यास करना है। मन को अन्य सभी व्यवहारों से हटा कर चित्त को समाहित करना है। ओ३म् या गायत्री के जप से प्रभु स्मरण करते-करते अपने आप

को प्रभु समर्पित करना है और उसके दिव्य प्रकाश से प्रकाशित होना है। अपने आप को भूल कर केवल प्रभु ही के आनन्द स्वरूप में निमग्न होना है। यही समाधि अवस्था है।

स्पष्ट है कि प्रभु दर्शनार्थ हमें इतना अधिक परिश्रम, तप और, त्याग करना पड़ता है, एकाग्र चित्त से ध्यानावस्थित हो प्रभु स्तुति, प्रार्थना करते हुए प्रभु चरणों में अपने आपको समर्पित करना होता है तभी हमारी उपासना सफल होती है। केवल रूढ़िवाद के अधीन नासमझी के व्रत-तप से, भजन-कीर्तन से या रात-रात भर लाउडस्पीकरों पर 'हरे राम हरे राम राम-राम हरे-हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण हरे हरे' के गगन भेदी स्वरों में गान करने और अड़ौसी-पड़ौसी की नींद हराम करने से तो प्रभु प्राप्ति हो नहीं पाती।

एक काल्पनिक कथा है कि नारद जी लोक-लोकान्तर का भ्रमण करके जब स्वर्ग लोक में पहुँचे तो ब्रह्मा जी ने पूछा 'कहो नारद जी मृत्युलोक में क्या देखा'' ? नारदजी बोले "भगवन् ! मृत्युलोक के सभी मानव आपके अनन्य भक्त हैं दिन रात आपके नाम की ही रट लगाये रहते हैं" भगवान् बोले "बड़े भोले हो नारद ! मुझे कोई नहीं चाहता, कोई मेरा दर्शन करना नहीं चाहता" । नारद ने कहा 'यह कैसे हो सकता है प्रभो ! मैं स्वयं जो देखकर आया हूँ। मानव आपके दर्शनों को तड़प रहे हैं" । भगवान् ने कहा "अच्छा तुम्हारी यदि यही इच्छा है तो जाओ ले आओ किसी मानव को जो मेरे दर्शनों के लिये अति आतुर है" । नारद जी विमान लेकर मृत्युलोक में आये और ऐसे व्यक्ति को ढूँढ़ने लगे जो प्रभु का अनन्य भक्त हो। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उन्हें एक सेठ दिखाई दिया जो बड़े ही भक्तिभाव से 'हरे राम हरे राम" की रट लगाये हुए था। नारदजी ने सेठ के पास जाकर कहा "सेठजी

प्रभु की बड़ी भक्ति करते हैं आप ! आपके इस भक्तिभाव से प्रभु बड़े प्रसन्न हैं। वह आपको दर्शन देना चाहते हैं। बोलो ! चलते हो प्रभु दर्शनार्थ" । सेठजी इतना सुनते ही मस्ती में झूम उठे और नारदजी से बोले "अवश्य चलूँगा महाराज, अवश्य चलूँगा ' पर थोड़ी देर सोचकर बोले "महाराज मेरे लड़के का सात दिन बाद विवाह होने वाला है, उसके बाद अवश्य चला चलूँगा" । नारदजी बोले, "अच्छा यही सही"।

आठ दश दिन बाद नारदजी फिर आये और बोले 'क्यों सेठजी ! हो गया बेटे का विवाह !" सेठजी ने कहा "हाँ महाराज, प्रभु कृपा से विवाह सानन्द सम्पन्न हो गया"। तब नारदजी ने कहा "तो अब चलो प्रभु दर्शन करने को"। सेठजी ने कहा "महाराज चला तो चलूँ पर अभी २ तो बेटे का विवाह हुआ ही है, बहू की गोद भर जाय, एक बच्चे का मुँह देख लूँ तो उसके बाद अवश्य चला चलूँगा"। नारदजी ने कहा "अच्छा ऐसा ही सही " । साल डेढ़ साल बाद नारदजी फिर आये और पूछा "क्यों सेठजी बच्चा हो गया" सेठजी बोले "हां, महाराज ! प्रभु की कृपा से पोता हुआ है। बड़ा ही सुन्दर शिशु है। कमल का सा मुखड़ा है उसका" । नारदजी ने कहा अच्छा तो अब चलो" ! सेठजी बोले "महाराज ! आप मेरे ही पीछे क्यों पड़े हैं ? क्या स्वर्ग जाने को मैं अकेला ही रह गया हूँ ? और भी तो बहुत से लोग हैं उन्हें क्यों नहीं ले जाते ?" नारदजी की आँखें खुल गईं। मन ही मन उन्होंने सोचा भगवान् ने ठीक ही कहा था, लोग यों ही उनके नाम की रट लगाये रहते हैं। भगवान् से इन्हें कोई प्रीति नहीं, कोई सरोकार नहीं। उनकी प्रार्थनायें भगवान् की प्राप्ति के लिये नहीं, सांसारिक भोगों के लिए ही होती हैं।

पर इस प्रकार प्रभु में सच्ची आस्था, श्रद्धा और सम-

र्ण की भावना के बगैर केवल प्रभु के नाम की रट लगाये रहने से तो कोई लाभ होगा नहीं। लेकिन हमारे पौराणिक पण्डित इससे भी एक कदम आगे रहते हैं। भोली-भाली हिन्दू जनता में ऐसा भ्रम फैलाये रखते हैं कि राम नाम की रट तो दूर यदि भूले-भटके भी कभी राम का नाम ले लिया जाय तो बेड़ा पार हो जाता है। अजामिल आदि का उदाहरण देकर लोगों को ऐसा बहकावे में डाल देते हैं कि जिसका कोई अन्त नहीं। यदि अजामिल जैसा अनाचारी, अनपढ़ व्यक्ति अन्तिम समय में अनायास ही (भगवान् को लक्ष्य करके नहीं) बेटे के नाम 'नारायण' का उच्चारण करने से स्वर्ग पहुँच जाय तो फिर हमारे आर्ष ग्रन्थों के इस कथन का क्या होगा कि—

नाविरतो दुश्चरितान्न शान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।। कठो. २२४

यह उपासना योग दुष्ट, दुश्चरित्र व्यक्ति को सिद्ध नहीं होता क्योंकि जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं बनाता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक चाहे वह कितना ही पढ़े या सुने उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। (महर्षि दयानन्द)

अतः उपासना सिद्धि के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य सर्वप्रथम मानव बन प्रभु का कृपा पात्र बने, ज्ञान के साथ सत्कर्म करते हुए प्राणिमात्र के कल्याण के लिये अपने कर्त्तव्य कर्मों को करता रहे, निष्काम कर्म करे कर्मकाण्ड का यथेष्ट अनुष्ठान करे और अष्टाङ्ग योग का अनुसरण कर पूर्ण श्रद्धा और भक्तिभाव से प्रभु की स्तुति प्रार्थना और उपासना करे तभी वह प्रभु के चरणों में स्थान पाकर आवागमन के चक्र से मुक्त हो सकता है।

६

उपासना की फल-श्री

उपासना—'आत्मिक प्रगति और आत्मिक स्वास्थ्य के लिए एक अनिवार्य माध्यम है। जीवन-शोधन की साधना के साथ ईशोपासना का क्रम आशाजनक परिणाम प्रस्तुत करता है, उससे जीवनोद्देश्य की प्राप्ति में भारी सफलता मिलती है।

उपासना के रहस्य और अध्यात्म तत्वज्ञान के मूल आधार से अपरिचित किन्तु उसकी ध्वजा उड़ाने वाले तथा-कथित 'गुरु' लोग उलटे-पुलटे ग्रन्थों को रचकर उन्हें प्राचीन ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध कर और कई बार तो ऋषियों के ग्रन्थों में मनमानी मिलावटें करके यह मिथ्या मान्यता फैलाते रहते हैं कि अमुक प्रकार की पूजा-अर्चा करने से उन्हें अमुक प्रकार के पाप के फल को भुगतने में छूट मिल जायेगी। यह प्रति-पादन आम लोगों को बड़ा रुचिकर लगता है।

प्रायः देखा जाता है कि दुराचारी लोग सदाचारी जनों की अपेक्षा प्रत्यक्षतः अधिक भौतिक सुख-सुविधायें प्राप्त कर लेते हैं। पाप-पथ अपनाने वाले असुर देवताओं से अधिक बलिष्ठ रहे हैं, यह प्रकट है। पीछे भले ही उनकी दुर्गति हो, किन्तु आरम्भिक लाभ तो प्रायः इन्हें ही मिलता है। देवत्व प्राप्ति का अभियान तप और साधना की कष्टकर प्रक्रिया से आरम्भ होता है। लम्बी दूर तक एकान्त निष्ठा से उस मार्ग पर चलने के बाद ही देव पुरुष आनन्द के दर्शन करता है, ऐसी दशा में तात्कालिक लाभ को प्रधानता देने वाले—अदूरदर्शी लोग कुमार्ग-गामिता के सहारे तुरन्त लाभ उठाने की रीति-नीति अपनाते हैं, पर उन्हें यह खटका अवश्य बना रहता है कि कभी न कभी इन कुकर्मों का कष्टकारक घोर दुष्फल भोगना पड़ेगा।

इस चिन्ता से यह धर्मध्वजी उन्हें मुक्त कर देते हैं। उन्हें और चाहिये ही क्या ? दण्ड का भय न रहने पर पाप कर्मों से प्रत्यक्ष में मिलने वाले लोभों को छोड़ने का तब कोई कारण ही नहीं रह जाता।

किसी का गला काटकर, किसी की आँखों में धूल झोंक कर, १०) रु० बेईमानी से कमाकर चवन्नी किसी 'धर्म गुरु' की कथा में चढ़ाकर आज का 'चतुर' इन्सान पौने दश रुपये का नकद लाभ लेता है और 'धर्मात्मा' भी कहलाता है। धर्म के बाजार में आज इसी प्रकार की 'उपासना' और ऐसे ही अनेक २ 'गुरुओं' की भरमार है। हर मतवादी इसी सस्ते नुस्खे को दुहराता है। इतना ही नहीं सस्तेपन की दौड़ में सबको पीछे छोड़ देना चाहता है। परिणाम सामने है—एक ओर मन्दिर, मठ, गिरजे, मस्जिद, कीर्तन मण्डलियाँ, अखन्ड पाठ आदि बढ़ रहे हैं उसी अनुपात में बेईमानी, हरामखोरी, भ्रष्टाचार, दुराचार, व्यभिचार और अनेकानेक अनाचार बढ़ रहे हैं। यह स्वाभाविक ही है। यदि उपासना पाप-दण्ड से मुक्ति दिलाती है तो वह नैतिक, मानवीय, धार्मिक और आत्मिक मूलभूत आधारों को ही नष्ट करेगी। ऐसी दशा में वह उपासना नास्तिकता से भी मँहगी पड़ेगी। सच तो यह है कि ऐसी उपासना ढकी हुई नास्तिकता है, जो प्रकट आस्तिकता से भी भयङ्कर है और प्रकट नास्तिकता को यही जन्म भी देती है। महाकवि अकबर का यह कथन—

खुदा के बन्दों को देखकर ही खुदा से मुनकिर हुई है दुनियाँ।
कि ऐसे बन्दे हों जिस खुदा के वह कोई अच्छ खुदा नहीं है॥

—सर्वांश में सत्य है। इतिहास साक्षी है, महात्मा बुद्ध को ईश्वर उपासना के नाम पर यज्ञों में पशुओं की बलि देने

वाले तथाकथित धर्मगुरुओं ने ही नास्तिक बनाया। आज भी जो सबसे लम्बा तिलक लगाता और हर समय माला घुमाता रहता है, वही गरीबों का सबसे अधिक गला घोंटता है और पाप करने में सबसे आगे है. इस स्थिति ने नई पीढ़ी को ईश्वर और उसकी उपासना से उपराम कर नास्तिक बनाया है।

पर हमें ध्यान रहे कि ईश्वरीय अकाट्य नियम इतने सरल नहीं हैं कि तनिक सी पूजा से छुई मुई होकर सूख जायें। वे अत्यन्त कठोर हैं। विश्व का कण-कण उनकी पकड़ में जकड़ा हुआ है। वेद माता के शब्दों में—

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानिपस्पशे

उस विष्णु ने सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को व्रतों—नियमों से जकड़ रक्खा है। स्वयं भी वह उन नियमों को तोड़ता नहीं। उसे कोई पूजे या गाली दे, उसकी कर्मफल की अपरिहार्य प्रक्रिया में तनिक भी ढील सम्भव नहीं।

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शभाऽशुभं"

यह वैदिक सत्य सिद्धान्त शाश्वत और अटल है। ऐसी दशा में उपासना जिस पाप-फल-नाश के प्रलोभन से की गई थी ईश्वर की प्रसन्नता की जिस आधार पर आशा बाँधी गई थी, वह बालू के महल की तरह ढह जाती है। वह उपासना से पाप-फल नाश हो जानेके धोखेमें अधिकाधिक पाप करता चला जाता है (क्योंकि प्रत्यक्ष में तो उसे उन पापों से लाभ ही दीखता है) अन्ततः उस न्यायकारी प्रभु की तीव्र दाढ़ों में समाकर 'महती विनिष्ट' को प्राप्त होता है। यह है उपासना के दुरुपयोग का दुष्फल ! तब उपासना का दुरुपयोग क्या है ? और उसका फल क्या है ? यहाँ हम इसी प्रकरण पर विचार करने लगे हैं।

निश्चय ही उपर्युक्त स्थिति में एक प्रश्न उभर कर सामने आता हैं जब हम जैसा कार्य करेंगे, वैसा ही फल

मिलेगा—अच्छा करेंगे अच्छा फल मिल जायगा, बुरा करेंगे बुरा मिल जायगा, तब ईश्वर उपासना का बखेड़ा क्यों? यदि उपासना हमें पाप के फल से नहीं बचा सकती तो ईश्वर उपासना का क्या लाभ? वस्तुतः यह प्रश्न उपासना के रहस्य—उसके सत्यार्थ एवम् स्वरूप को न समझने पर ही उत्पन्न होता है। उपासना का सत्यार्थ और उसका स्वरूप जान लेने पर हम देखेंगे कि उपासना के अगणित लाभ हमारे समक्ष आ खड़े होते हैं। यहां हम क्रमशः उनकी चर्चा करेंगे।

१. आत्मानन्द की प्राप्ति—

उपासना का अर्थ है - जैसा कि पूर्व में कई बार बताया गया है-समीप बैठना। जीव का ईश्वर के समीप बैठना—इसी का नाम उपासना है। जैसे जल के समीप बैठने से हम में जल के गुण शीतलता का आधान होता है, हम शीतलता अनुभव करते हैं तथा अग्नि के समीप बैठ कर हमें गर्मी अनुभव होती है, अग्नि का गुण हमारे में समाविष्ट होता है वैसे ही उपासना से जीव में ईश्वरीय गुणों का विकास होता है। ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है, जीव केवल सत्-चित् है। ईश्वर उपासना से जीवात्मा में आनन्द-रस का सञ्चार होता है।

यों ईश्वर हमारे सबसे अधिक निकट है। वेद माँ कहती है–**"अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति अन्ति सन्तं न पश्यति"** वह हमारे इतने निकट है कि हमें छोड़ नहीं सकता, वह इतने निकट है कि हमें दीखता नहीं। आँख के सुरमे की भाँति वह हमारे

★ ध्यान रहे जैसे लोहा आग के सम्पर्क में आग्नेय हो जाता है, पर अग्नि नहीं होता, अग्नि से पृथक् होते ही मात्र लोहा है, वैसे ही जीवात्मा उपासना द्वारा 'आनन्दी' बन जाता है, आत्मानन्द अनुभव करता है, सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर नहीं बनता।

कण-कण में समाया है पर जैसे दो प्रियजन एक ही किले में कैद हैं, दोनों की कोठरियों में एक दीवार मात्र का अन्तर है तो उतना व्यवधान ही दोनों को हजारों मील की दूरी जैसा कष्ट देता है। भावात्मक समीपता के अभाव में आनन्द कहाँ?

कोई पति-पत्नी बाल्यकाल में परस्पर परिचित रहे हों तो भी उन्हें तब वह आनन्द-उल्लास नहीं मिलता जो कि प्रणय में बँध जाने के बाद मिलता है। परिचय और सम्बद्ध होने में भारी भावात्मक अन्तर है। ईश्वर को हम जानते तो हैं—उसे अपने चारों ओर बिखरा भी अनुभव करते हैं, यह परिचय मात्र है। इतने से काम नहीं चलता, आनन्द तब आता है—आत्मानन्द की अनुभूति तब होती है, लाभ तब मिलता है जब दोनों के बीच भावात्मक एकता का सम्बन्ध बँध जाता है। वह रस वह आनन्द अवर्णनीय है—**"स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा।"**

प्रियजनों के पास बैठने का अपना आनन्द है। पति-पत्नी के पास, माँ-बेटे के पास, पिता-पुत्र के पास और मित्र-मित्र के पास बैठ कर हर्ष विभोर होते हैं तो उस प्रियतम के समीप बैठने के आनन्द का क्या कहना? उपासना आनन्द-विभोर कर देने वाली भावनात्मक प्रक्रिया है, उसे यदि सही ढङ्ग से अपनाया जा सके तो उपासक उतने ही क्षणों में आनन्द और उल्लास में ओत-प्रोत रह सकता है।

२. आत्मिक प्रकाश की वृद्धि

ईश्वर समस्त सद्गुणों, सत्प्रवृत्तियों, सद्भावनाओं का मूल केन्द्र है। उसकी समीपता हमारे लिये वैसी ही उपयोगी है जैसी शीत के कष्ट से काँपते हुए व्यक्ति के लिये अग्नि की समीपता। जीवनोद्देश्य की रसायन का परिपाक ईश्वराग्नि

की समीपता =उपासना से ही सम्भव है। जल से बाहर रहने पर मछली की जो दुर्गति होती है, वैसी ही ईश्वर विमुख जीव की भी हो जाती है। जीवन एक बल्व मात्र है उसमें जो प्रकाश है, वह विद्युत् धारा को चमत्कार है। चमकता तो निस्सन्देह बल्व ही है पर उसके अन्दर काम करने वाली शक्ति पावर हाउस से आने वाली बिजली ही है। जीव जब उपासना द्वारा ईश्वर के साथ जुड़ जाता है तब वह स्वयं प्रकाशवान् रहता है तथा दूसरों को प्रकाशित करता है। उपासना वह आत्म प्रकाश और तेजस्विता प्रदान करती है जो सृष्टि के मुकुटमणि परमेश्वर के प्रिय राजकुमार—मनुष्य में अपेक्षित है। महात्माओं और महापुरुषों में जो आत्म प्रकाश या आत्म तेज की आभा प्रत्यक्ष देखने में आती है, वह उसी 'पावर हाउस' की समीपता (सम्बन्ध) से मिलती है।

आत्म-शक्ति का विकास

ईश्वर सर्व शक्तिमान् है। ईश्वर की समीपता का लाभ उठाकर उपासक अपनी शक्ति सामर्थ्य को अनन्त गुणा बढ़ा सकता है। महा पुरुषों सन्तों और साधुओं में पाया जाने वाला आत्म बल इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। श्री राम का इतनी बड़ी आसुरी शक्ति को विनाश करने का प्रण, श्री कृष्ण का अकेले ही दुर्योधन की सभा में प्रवेश, महर्षि दयानन्द का २।। अरब की दुनियाँ के समक्ष 'पाखण्ड खण्डिनी पताका' का उत्तोलन, महात्मा गांधी का लंगोट लगाकर ब्रिटिस सत्ता को ललकारना ईश्वरोपासना का प्रतिफल ही तो है।

यों वेद माँ के शब्दों में 'इन्द्रस्य युज्य: सखा' ईश्वर जीवात्मा का परम मित्र है ही। किन्तु बार-बार प्रास बैठने से हररोज सम्पर्क बनाये रखने से ईश्वर और जीव के बीच मित्रता का रिश्ता दृढ़तर होता जाता है। हम जानते हैं कि जब किसी राज-

कर्मचारी या शासन सत्ताधारी से मित्रता हो जाती है तो हम कितनी शक्ति का अनुभव करते हैं, कितने गौरव का? फिर उस ब्रह्माण्ड-पति, राजाधिराज से यदि हम सच्ची मित्रता उपासना के माध्यम से जोड़ लें तो हमारी शक्ति और गरिमा का क्या ठिकाना रहेगा ?

४. अनागत पापों की प्रवृत्ति का दलन

जैसा कि पीछे विचार कर चुके हैं, उपासना कृत पापों के फल को तो नष्ट नहीं करती, उसका फल तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा। हाँ, ईश्वर की इसी अटल न्याय व्यवस्था में उपासक का सत्य विश्वास उसे पाप करने से बचाता है। ईश्वर सर्वव्यापक है, वह सर्वद्रष्टा है, वह सर्वत्र हमारे अङ्ग-सङ्ग है, उससे हम कहीं किसी दशा में कुछ भी छिपा नहीं सकते और बाहर क्रिया में तो दूर मन में आये पाप का दण्ड भी प्रभु अवश्य देंगे, उपासक की यह सत्य धारणा उसे पाप से ही दूर रखती और उसे निष्पाप बनाती है। यों उपासक अनागत (भविष्य में होने वाले) पापों की प्रवृत्ति के ही दलन करने में समर्थ होता है।

५. आत्मिक निर्मलता

वस्त्र मैला होने पर हम उसे धोते हैं, वह पुनः निर्मल हो जाता है। उपासना अति उत्तम साबुन का कार्य करती है, उपासना से आत्मा पर छाई विकारों की मैल धुलकर आत्मा का दर्पण निर्मल हो जाता है उपासक आत्म-निरीक्षण की वृत्ति जगाकर समस्त इन्द्रियों, मन और आत्मा का मार्जन करता है।

६ कुसंस्कारों का निरसन

हम जो भी बाह्य और आन्तरिक क्रिया करते हैं, हमारी चित्त रूपी चादर पर उसकी 'सु' या 'कु' एक सूक्ष्म रेखा खिंच

जाती है कालान्तर में यह वासना का रूप ले लेती है। संस्कारों की यही रेखायें कई बार साधारण सा निमित्त उपस्थित होने पर मनुष्य को सुकर्म या कुकर्म में प्रेरित करती हैं। उपासना कुसंस्कारों की बीज शक्ति को नष्ट-प्राय कर देती है। निमित्त उपस्थित होने पर उतनी आसानी से उपासक कुकर्म-रत नहीं हो पाता। यों उपासना पाप से विरत कर निष्पाप बनाती है।

अहंकार का उन्मूलन—अहंकार और उपासना का वैर है। महात्मा कबीर जी ने कितने सरल शब्दों में कहा है—

जब मैं थी तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहि।
प्रेम गली अति सांकरी ता में दो न समांहि।

अथवा

सब अँधियारा मिट गया दीपक रेखा मांहि

जब उपासक अगणित विश्व ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के ताण्डव नृत्य की गहराई में डूबता है तो उसका अन्तरात्मा एक बार ही बोल उठता है—'तू किस खेत की मूली है ?' और उसका अभिमान चूर-चूर हो जाता है।

आत्म-हीनता एवं दैन्यता का नाश—मनीषियों ने अभिमान को जहाँ पाप का मूल बताया है, वहाँ आत्म-अवसाद, आत्म-हीनता की वृत्ति भी उतनी ही पाप मूलक है। दैन्यता और हीनता की वृत्तियाँ जीवन विकास में बहुत बड़े अवरोधक तत्व हैं। उपासक जब देखताहै प्रलय के बाद पुनः सृष्टि होती है, रात्रि के बाद दिन आता है और अन्धकार के पश्चात् प्रकाश। जब वह देख पाता है कि ग्रीष्म की तपन के बाद ही तो घनश्याम अपनी काली-काली घटाओं सहित आते हैं, रिमझिम-रिमझिम वर्षा होने लगती है और देखते २ तृण रहित धरती पर मखमली बिछौना बिछ जाता है, इसी प्रकार जब वह देखता है कि पतझड़ के ठीक बाद ही तो ऋतुराज बसन्त बांसुरी बजाते

और जमते हैं.. ये सब दृश्य उपासक को आश्वस्त करते हैं। उसकी निराशा और अन्तर-अवसाद भाग खड़े होते हैं। अदीनता का वरण कर संत तुलसी के शब्दों में मानो वह पुकार उठता है

"अब लौं नसानी, अब न नसैहौं"

अभिमान और अवमान (आत्महीनता यह दोनों ही मनुष्य को पाप-कङ्क में गिराते हैं। इन दोनों के दूरीकरण की भावना से ही सन्ध्या में 'अघमर्षण' मन्त्रों का विनियोग है।

आत्म-विश्वास का जागरण उपासक को जब यह भान होता है कि मैं 'आत्मा' हूँ, शरीर मात्र नहीं, मैं उस विश्वात्मा का अमृत पुत्र हूँ—तो एक अद्‌भुत आत्म विश्वास से उसका जीवन जगमगा उठता है। वेद मां के शब्दों में वह उद्‌घोषणा करता है—

अहं इन्द्रो न पराजिग्ये।' (ऋ६ १०।४८।)

मैं इन्द्र हूँ, आत्मा हूँ। पाप तापों की विकट सेना से मैं परास्त होने वाला नहीं हूँ। यह 'अहं' यह आत्म-विश्वास अभिमान से-क्षुद्र अहं से सर्वथा भिन्न अलौकिक शक्ति और क्षमताओं का सर्जक है। आत्म-विश्वास की इस अनुपम शक्ति से शक्तिमान उपासक की ललकार में कितना बल है—

'**मनस्पाप परोपेहि** ....'

ऐ मेरे मन के पाप तू दूर भाग जा। मेरी तेरी क्या पहिचान ? मैं तो उस महान् इन्द्र का सखा हूँ।

धार्मिकता का उदय—आग का धर्म है अग्नित्व, जल का धर्म है शीतलता उसी प्रकार मानव का धर्म है मानवता। मानवता की व्याख्याता मानव धर्म शास्त्र-प्रणता महर्षि [illegible] मानवता [illegible]

ही जैसे चन्दन वृक्ष के समीप उगे हुए जंगली पेड़-पौधे भी सुगन्धित हो जाते हैं। आखिर सत्संगति का महत्व तो सर्व विदित है। ईश्वर की संगति तो सर्वोत्तम है। अतः उपासक के जीवन में सभी दुरितों का विनाश और सभी भद्रताओं का निवसन, सभी कुटिलताओं का ह्रास, और सुपथ प्रेम का विकास स्वाभाविक है। ईश्वराय दैवी गुण—दयालुता, न्याय-कारिता, उदारता, निष्कामता सच्चे उपासक की विभूतियाँ हैं।

अपार मनोबल की उपलब्धि—

जीवन—शरीर, मन और आत्मा के संयोग का नाम है। मानव-जीवन की सफलता की राह में मन का बड़ा महत्वपूर्ण भाग है। हम मन को अपना शत्रु मानते हैं। पर इतने शक्तिशाली को शत्रु बनाने में क्या लाभ ? उसकी शक्ति को पहिचान; उससे समुचित लाभ ले जीवन-पथ को विकसित करना ही बुद्धिमानी है। उपासना द्वारा मन की चञ्चलता मिटाकर, एकाग्रता सम्पादन कर उसे शिव संकल्प वाला बनाना सरल है। मन के विविध रूपों की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं उनकी अपार शक्तियों का बड़ा ही सुन्दर विवेचन यजुर्वेद में किया गया है। यहाँ हम संक्षेपतः उस पर विचार करते ह।

यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय के प्रथम ६ मन्त्रों में देवमन, यक्षमन, धृतिमन, बुद्धि और चित्त को शिव-संकल्पयुक्त बनाने के लिए प्रभु से प्रार्थना करने का विधान है और इसी प्रकार प्रत्यग्भान विश्वभान व वशीकरण मन के लिये भी।

इन मन्त्रों में प्रथम मन्त्र देवमन के लिये हैं।

यज्जाग्रतो दूरमुदैत दैवं तदुसुप्तस्य तथैवैति।
...ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव...

है, विषयों का प्रकाश कराता है, (तत् उ) और वह ही (सुप्तस्य सोते समय (तथैव) उसी प्रकार (दूरङ्गमम्) दूर संस्कार देश में गया हुआ। (उत एति) उदित होता है (तत् मे) वह मेरा (ज्योतिषां एकं ज्योतिः) ज्ञान-इन्द्रिय रूपी प्रकाशों का एक प्रकाश (दैवं मनः) देवमन (शिव सङ्कल्पम्) शुभ विचारों वाला (अस्तु) हो।

देवमन ज्ञान इन्द्रियों से बाहरी विषयों का ज्ञान प्रकाशित कराता है अतः वह ज्ञान-इन्द्रियों का स्वामी है। यदि यह शुभ संकल्प वाला न हो तो बुद्धि, चित्त और आत्मा को भ्रम में रक्खेगा और इन्द्रियों को भी स्वच्छन्द। इसलिए वेद मन्त्रों में सर्वप्रथम देवमन को शुभ विचारों वाला बनाने के लिये प्रार्थना करने का आदेश दिया गया है।

[२] द्वितीय मन्त्र में यक्षमन के लिये प्रार्थना है।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(येन) जिस मन से (मनीषिणाः) बुद्धिमान लोग (अपसः) कर्मनिष्ठ लोग, (धीराः) ध्याननिष्ठ योगी जन (यज्ञे विदथेषु) यज्ञों और ज्ञान यज्ञों में (कर्माणि) कर्म (कृण्वन्ति) करते हैं (यत् प्रजानां] जो प्रजाओं में होने वाले तत्वों में (अपूर्वम्] अपूर्व तत्व है [तत मे] वह मेरा (यक्षम मनः) यक्ष-मन (शिवसंकल्पम्) शुभ विचारों वाला [अस्तु] ...

...शिवसंकल्पमस्तु
...सारथी (अभीषुभिः) ब...
...रवान् इव) घोड़ों को जिस प्रकार
...यत) गन्तव्य मार्गों से कुशलता पूर्वक...

उसकी सहायता करने के ही आदेश देगा। वह कर्म इन्द्रियों को सदा परोपकार करने के लिए ही प्रोत्साहित करेगा।

[३] तृतीय मन्त्र में धृतिमन, बुद्धि और चित्त के लिये प्रार्थना है।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्जोतिरन्तर मृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(यत् प्रज्ञान मनः) वह मेरा बुद्धिरूपी मन (तत् मे चेतः मन) वह मेरा चित्त रूपी मन—यहाँ बुद्धि और चित्त को मन का ही अंश माना गया है (यत् प्रजासु अमृतम्) जो उत्पन्न होने वालों में अमर है अर्थात् जिस इस चित्त पर अंकित हुए चित्र या संस्कार मिटने वाले नहीं हैं, (यत अन्तः ज्योतिः) जो अन्दर ही से प्रकाश रूप हैं यस्मान् ऋते) और जिसके बगैर (किञ्चन् कर्म) कोई काम (न क्रियते) नहीं किये जाते (तत् मे) वह मेरा (धृति मनः) धृतिमन (शिव संकल्पमस्तु) शुभ विचारों वाला हो।

यहाँ धृतिमन बुद्धि और चित्त तीनों के लिये शिव-संकल्प युक्त होने की प्रार्थना करते रहने का आदेश है।

[४] चतुर्थ मन्त्र में प्रत्यग्भान मन के लिये प्रार्थना का विधान है। इस मन्त्र में प्रत्यग्भान नाम नहीं है, पर आशय इसी से है।

येनेदं भतं भुवनं भविष्यत्परि गृहीत ममृतेन सर्वम्।
यज्जाग्रतों दूरमुदत [illegible] तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।४।

[illegible]म

(अमृतम् मनः) अमर आत्मा की विभूतियों से विभूषित प्रत्यग्भान मन (शिव संकल्पमस्तु) शुभ विचारों वाला हो।

यहाँ इदम् शब्द आत्मा का द्योतक है। जब आत्मा स्वयं सत्वगुणी होकर अपनी विभूतियों को मन में प्रकाशित करता है; अपना अहं या अहंकार मन में प्रकट करता है अर्थात् मन पर पूर्ण अधिकार व नियन्त्रण रखने लगता है तब आत्म-दर्शन होने लगता है। तब वह 'सप्त' होता अर्थात् सात् ऋत्विजों-पाँच ज्ञान इन्द्रिय, एक प्राण, व एक मन स्वयं से ज्ञान यज्ञ रचाता है और उस समय वह सिद्ध पुरुषों की भाँति भूत और भविष्य का बोध करने में समर्थ हो जाता है। उदाहरण के लिए हम महर्षि दयानन्दजी के जीवन की ही दो घटनायें प्रस्तुत करते हैं।

भूत का बोध—स्वामी जी पटना में भूपसिंह के ऐश-बाग में ठहरे हुए थे। यह स्थान पटना शहर से दो कोस की दूरी पर था। डिप्टी सावनमल के यहाँ से उनके लिए दूध जाया करता था। एक दिन सन्ध्या समय स्वामीजी के नवीन शिष्य और सेवक राजनाथ के हाथ सावनमल जी ने दूध भिजवाया। रात हो गई थी अँधेरी रात थी और वर्षा भी हो रही थी। राजनाथ दूध लेकर बाग की ओर चला। रास्ते में उसे एक काला साँप मिला। राजनाथ डर कर पीछे हटने लगा तो उधर भी एक साँप रास्ते पर आता दिखाई दिया। कुछ देर के लिये वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया, डर गया, पर हिम्मत करके वह साँप पर से छलाँग लगा कर आगे बढ़ [illegible]

[illegible] बागो [illegible] इव) घोड़ों को जिस प्रकार (नेनी-यत) गन्तव्य मार्गों से कुशलता पूर्वक [illegible]

घटित घटना की जानकारी अर्थात् भूत की जानकारी स्वामी जी को अपनी योग सिद्धि के कारण ही हो पाई।

भविष्य का बोध—प्रयाग में स्वामी जी अलोपी देवी जी के उद्यान में ठहरे हुए थे। एक दिन रायबहादुर पण्डित सुन्दरलाल जी मित्रों सहित स्वामी जी के यहाँ गये। महाराज उस समय ध्यानावस्थित थे अतः वे चुपचाप वहाँ बैठ गये। लगभग आध घण्टे बाद स्वामी जी कुटिया से बाहर आये। उस समय स्वामी जी हँस रहे थे। पण्डित सुन्दरलाल जी ने पूछा 'आप किस बात पर हँस रहे हैं ?' तब स्वामी जी ने कहा 'एक मनुष्य मेरी ओर चला आ रहा है। कुछ देर ठहर जाइये, उसके आने पर आपको एक कौतुक दिखाई देगा।' इस कथन के लगभग आध घण्टे बाद एक ब्राह्मण मिष्ठान्न लिये आ पहुँचा। उसने स्वामी जी को मिठाई भेंट की और भोग लगाने की विनती की। स्वामी जी ने कहा, लो थोड़ी मिठाई तुम्हीं खाओ, उसने लेने से इन्कार दिया। स्वामी जी ने डाँट कर कहा लेते क्यों नहीं ?' वह ब्राह्मण काँपने लगा। उस पर स्वामी जी ने कहा इस मिष्ठान्न में विष मिला है। मिठाई का एक अंश वहीं पर एक कुत्ते को डाला गया और वह कुत्ता उसे खाते ही छटपटा कर मर गया। यह थी देव दयानन्द जैसे योगज्ञान में सिद्ध पुण्यात्मा की भविष्य को पहचानने की शक्ति। [भूत और भविष्य में वर्तमान का ज्ञान तो सन्निविष्ट हो ही जाता है।]

...में विज्ञान मन के लिये प्रार्थना

यस्मिन्नृचः साम यजुँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः !
यस्मिंश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।५।

(यस्मिन्) जिस मन से (ऋचः साम यजुँषि) ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद का ज्ञान (रथ-नाभी-आराः इव) रथ से पहिये की नाभि में जिस प्रकार आरे लगे होते है उसी प्रकार प्रतिष्ठिताः) स्थित है और (यस्मिन्) जिसमें (प्रजानाम्) प्रजाओं का, प्राणियों का (सर्वं चित्तम्) सारा चित्त मण्डल (ओतम्) ओत-प्रोत है (तत् मे मनः) वह मेरा मन अर्थात् विश्वभान मन (शिव सङ्कल्पमस्तु शिव सङ्कल्प वाला हो।

जब प्रत्यग्भान मन में प्रभु की विभूतियों का प्रकाश हो जाता है तब प्रभु के ज्ञान का अर्थात् चारों वेदों का ज्ञान प्रकाशित हो जाता है और उस समय आत्मा अपने लिये नहीं, वरन् विश्व के सभी प्राणियों के लिये शुभचिन्तन करने लगता है, सबका भला चाहने लगता है और परोपकार ही उसका मुख्य उद्देश्य हो जाता है।

[६] छठे मन्त्र में वशीकरण मन के लिए प्रार्थना का विधान है। यहाँ भी यह नाम नहीं आया है। पर आशय उसी से है।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥

(सु-षारथि) जैसे अच्छा सारथी (अभीषुभिः) बागों से (वाजिनः) वेगवान् (अश्वान् इव) घोड़ों को जिस प्रकार (नेनीयते) गन्तव्य मार्गों से कुशलता पूर्वक...

लक्ष्य की ओर जाने वाला हृत प्रतिष्ठम्) और अन्यों के हित को सदा हृदय में धारण किये हुए हैं वह मेरा वशीकरण मन, जो सब को बश में करके अपने साथ लिये चलता है, शुभ विचारों वाला हो।

जब मन विश्वभान बना, प्रभु की विभूतियों से विभूषित हुआ, प्रभु के ज्ञान से विज्ञ हुआ, उसके प्रकाश से प्रकाशित हुआ, परोपकार की भावना से कर्मनिष्ठ हुआ, तब स्वाभाविक है कि वह मन और उसका स्वामी आत्मा अन्यों के लिये अनुकरणीय बन गया। लोग उसकी ओर स्वतः ही आकर्षित होकर उसके पीछे-पीछे चलने लगे, वह सबका नेता बना और फल-स्वरूप वह वशीकरण शक्ति वाला बन गया।

अत: जब आत्मा सत्वगुणी बन कर मन, बुद्धि और इन्द्रियों को वश में कर लेता है, मन को शुभ सङ्कल्प व शुभ विचारों वाला बना लेता है, प्रभु की विभूतियों का प्रकाश अपने अन्दर करके सत्कर्म के साथ अपना जीवन यज्ञ रचाता है तभी उसकी उपासना सफल हो पाती है।

सद्विवेक का जागरण—उपासना का परम लाभ है—सद्-बुद्धि की प्राप्ति। इसी को पाकर धी-मेधा, प्रज्ञा या ऋतम्भरा बुद्धि की प्राप्ति। इसी को पाकर मानव सत्य-असत्य तथा मित्र-अमित्र के बीच भेद कर सत्य का ग्रहण असत्य का त्याग तथा मित्र की प्राप्ति एवं अमित्र का ... कर जीवन को धन्यता की राह पर बढ़ाता है। सद्-विवेक ... है वह उपासक को उस